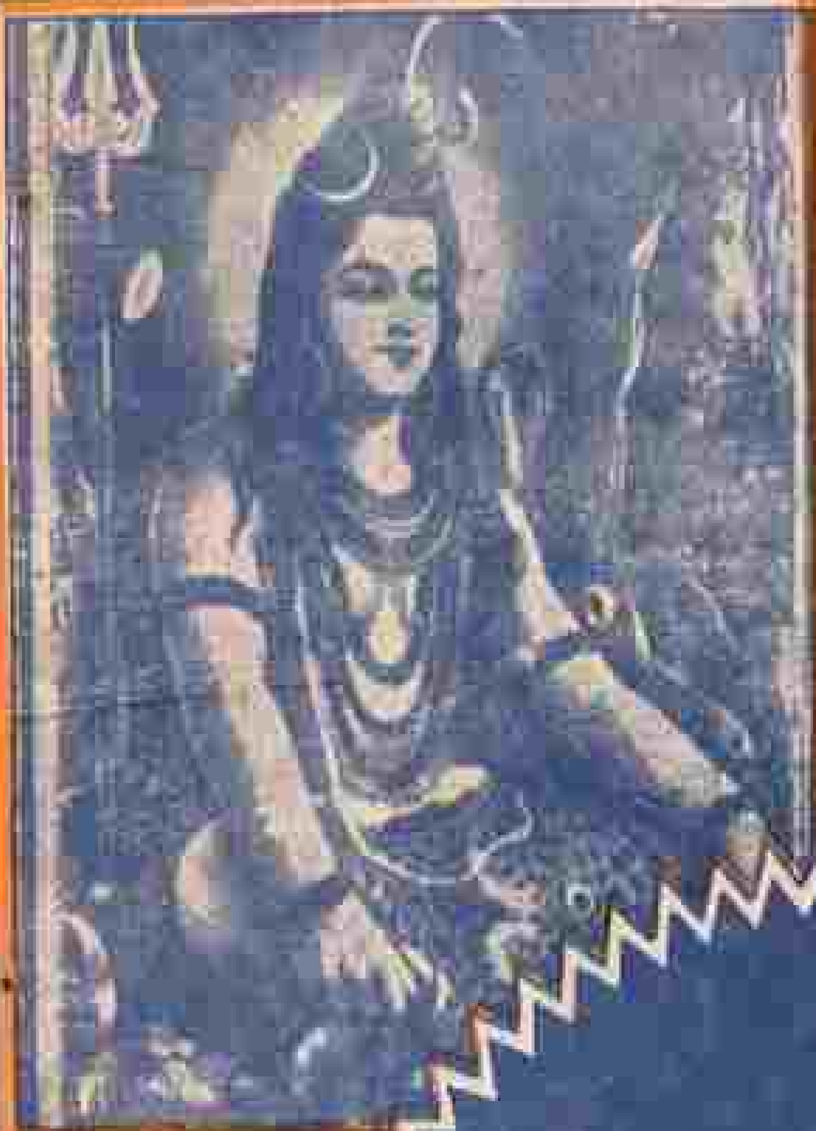

संस्थापक सम्पादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज

सिद्धयोग

वर्ष - १७

अंक - ११

श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन सवांई, आगरा

इस अंक में—

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा, सर्वाई

- आत्मा देव सर्वं परासापहानिः १
- धारणा : शक्ति प्राप्ति का साधन २
  योगयोगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
- बौद्ध दर्शन में 'आत्म-बोध' ६
  एक अन्वेषक
- वेदान्त सिद्धान्त और व्यवहार ८
  श्री स्वामी शारदानन्द जी
- साक्षी कोशातपदरूपिणि १३
  श्री केशव उपाध्याय
- गुरु देव का प्रेम १६
  श्री विष्णुप्रसाद व्यास
- 'अभ्युदय-निःश्रेयस' सिद्धि का सोपान योग १८
  एक साधक
- मैं भगवान हूँ २१
  श्री वी० पी० व्यास
- गुरु कुम्हार—बाहर मारे चोट २८
  श्री डा० विक्रमसिंह
- आसन-धाम ३०
  श्री मगनलाल हरिभाई
- अवतारी महापुरुष द्वारा सत्ता की प्राप्ति ३४
  श्री जगदीश नारायण उपाध्याय
- पत्रं पुष्पं फलं तोयम् ४२
  गोरक्ष पद्धति-से उपयोगी अंश
- योगः कर्मसु कौशलम् ४४
  श्रीमती डा० राजकुमारी मिश्रा
- जीवन उद्देश्य को समझो ४५
  श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज

संयुक्त सम्पादक

'दिव्य'

जनवरी १९८५

वार्षिक मूल्य २५ रुपया

॥ श्री रामलाल प्रभवे नमः ॥

लखनऊ में योग-प्रचार कार्यक्रम

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

का

卐 शुभागमन 卐

सभी सत्संग प्रेमी भाई-बहिनों से निवेदन करते हुए हर्ष हो रहा है कि हमारी अनुनय विनय को स्वीकार करके परम करुणा-सागर श्री गुरुदेव जी महाराज दिनांक २७-१-८५ को इलाहबाद से पधारने की कृपा कर रहे हैं। श्री गुरुदेव जी का योग-प्रचार कार्यक्रम दिनांक २७-१-८५ से ५-२-८५ तक श्री सिद्धयोग शिक्षण-संस्थान लखनऊ में चलेगा। अतः सभी सत्संग प्रेमी भाई-बहिनों से निवेदन है कि वे इस शुभ अवसर पर पधार कर अनुग्रहीत करें एवं सत्संग की शोभा बढ़ाकर लाभ उठावें।

पता:—श्री गुरुदेवजी का निवास स्थान—

श्री सिद्धयोग शिक्षण-संस्थान
एफ२४०७ आवास विकास कालोनी
राजाजीपुरम (ताल कटोरा रोड)
लखनऊ
फोन नं० ५६०२०

निवेदक—

ब्रह्मचारी ओमप्रकाश
मोहनलाल अग्रवाल
तथा लखनऊ के सभी भाई-बहन

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सराई (मन्नादपुर) आगरा।

वर्ष १७
अङ्क १०

जनवरी
१९८५

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो भूलोके विचरन्तो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्प्राप्त्यर्थं तदुचितमयं योगशास्त्रोपदेशान्,
भव्यात्मनां भवतु महतां सिद्धये 'सिद्धयोगः' ॥

ज्ञात्वा देवं सर्व पाशापहानिः

ज्ञात्वा देवं सर्वं पाशाप हानिः
क्षीणैः क्लेशैर्जन्ममृत्यु प्रहाणिः ।
तस्याभिध्यानात् तृतीयं देह भेदे,
विश्वैश्वर्यं केवल आप्त कामः

—श्वेताश्वतरोपनिषद् ३/११

अर्थात् परम शुद्ध परमेश्वर का निरन्तर ध्यान करने से जब साधक उस परमदेव परमेश्वर को जान लेता है, तब उसके समस्त बन्धन सर्वथा के लिए नष्ट हो जाते हैं। क्योंकि अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष और मरण भय, इन पाँचों क्लेशों का नाश हो जाने के कारण उसके जन्म-मरण का भी अभाव हो जाता है। अतः वह फिर कभी बन्धन में नहीं पड़ता। देह भेद यानी इस शरीर के नाश होने पर तृतीय लोक अर्थात् स्वर्ग के सबसे ऊँचे स्तर—ब्रह्मलोक तक के बड़े से बड़े समस्त ऐश्वर्यों का त्याग करके प्रकृति से विमुक्त सर्वथा विशुद्ध कैवल्य पद को प्राप्त हो पूर्ण काम हो जाता है। यानी उसे किसी भी प्रकार की कोई कामना नहीं रहती। वह सम्पूर्ण कामनाओं का फल पा लेता है।

हमारा विशेष लेख—

❋ धारणा : शक्ति प्राप्ति का साधन ❋

❀ योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज

हमने कभी किसी लेखों में यह भली प्रकार से समझा दिया है कि शक्तिविहीन व्यक्ति कुछ भी नहीं है। हमारे शास्त्रों का भी कथन है।

"नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो"

अर्थात् बलहीन मनुष्य को आत्मतत्व की प्राप्ति स्वप्न में भी सम्भव नहीं है। जो प्राणी शक्तिहीन है वह लोक व परलोक के सुख को किसी प्रकार भी प्राप्त नहीं कर सकता। उसका जीवन केवल इस प्रकार का है जिस प्रकार से वर्षा काल में अनेक प्रकार के कीट-पतंगे आदि जन्म लेकर मर जाया करते हैं। मनुष्य जब से जन्म ग्रहण करता है तब से उसके मन में शक्तिप्राप्ति की धुन सवार रहती है। किन्तु "मुण्डे मुण्डे मतिर्भिन्ना" के नियमानुसार साधन में मनुष्य अपनी मति के अनुसार प्रवृत्त होता है। इसलिए वह जिस प्रकार की साधना करता है उसी प्रकार की शक्ति का अनुभव कर अपने आपको आह्लादित कर लेता है किन्तु उसका यह आह्लाद कुछ थोड़े समय के लिए होता है जिस प्रकार से समुद्र की मछली को कहीं सूखी हुई बालुका में डाल दिया जाय तो वह उस बालुका की गर्मी को पाकर तड़पा करती है और यदि उसको कोई छोटा सा भी जलाशय मिल जाता है तो उसे पाकर उसे शान्ति मिलती है किन्तु यह शान्ति भी उसके लिए अस्थाई रहती है। जब तक वह जाकर समुद्र को प्राप्त नहीं हो जाती तब तक उसका दुःख तड़पना किसी भी प्रकार से कम नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह जीवात्मा शक्ति के भण्डार परमात्मा का अंश है। अतः जब तक यह उन्हीं को प्राप्त नहीं हो जाता तब तक छोटी-मोटी शक्तियों को पाकर इसको शान्ति उपलब्ध नहीं हो सकती और जिसको शान्ति ही नहीं मिली, उसको सुख कहां से मिलेगा। इसलिए योगियों ने अपने ज्ञान के आधार पर उच्चतम शक्ति प्राप्त करने के उपायों का अन्वेषण किया जिनको अपनाते हुए वे कभी भी दीनता को प्राप्त नहीं होते। हमारे शरीर में सभी प्रकार की शक्तियों की उत्पत्ति का केन्द्र मन है। मन की शक्तियों को भी महा

ज्योति कहा गया है और वेद मन्त्रों में उसको शिव संकल्प वाला होने की प्रार्थना की गई है।

वेद भगवान ने कहा है कि हमारा मन जैसे जागता हुआ दूर-दूर भ्रमण करता है, और सोता हुआ भी इस प्रकार क्रियाशील बना रहा करता है। उसमें शुभ संकल्पों का वास हो जिससे वह हमारे उत्थान का कारण बने। हमारे पूर्वजों का कथन है—

मन एव मनुष्याणाम्,
कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात् बन्ध और मुक्ति का कारण मन है इसलिए सर्व प्रथम मन की चञ्चलता को रोक कर शक्ति संचय करने के लिए उसका संयम में ले आना बहुत ही आवश्यक है। भगवान पतञ्जलिदेव ने 'योग दर्शन' में अष्टाङ्ग योग का वर्णन किया है, वह सारे-के-सारे अङ्ग यद्यपि मन पर कन्ट्रोल करने के लिये अचूक साधन है। किन्तु फिर भी सब प्रकार की साधना करते हुए अष्टांग योग के अन्दर धारणा, ध्यान और समाधि मनोनिग्रह करने के तीन प्रमुख साधनों का उल्लेख किया है। जब तक मन किसी धारणा के द्वारा आत्ममुखी नहीं होता तब तक इसके अन्दर शक्तियों का उदय नहीं हो सकता। किसी महा वृक्ष को छेदन करने के लिए पहले इस प्रकार के शस्त्र की आवश्यकता है जो तेजधार वाला हो और जो उसे काट सके इसलिये परम ध्येय प्राप्त करने के लिये और अपने अन्दर दिव्य शक्तियों को संगृहीत करने के लिये प्रथम मन को ही वश में लेना बहुत आवश्यक है। इस की पहली साधना धारणा से आरम्भ होती है।

धारणा

धारणा का अभ्यासी मनुष्य बाह्य जगत् में प्रवेश करने की योग्यता को प्राप्त करता है। धारणा क्या है? इसके विषय में भगवान् पतञ्जलि देव अपने सूत्र में इस प्रकार निर्देश करते हैं—

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा।

अर्थात् किसी लक्ष्य स्थान में चित्त को इकट्ठा करनी धारणा कहलाती है। यह धारणा ही योग का सर्व प्रथम सोपान है। यहीं से ही मनुष्य का सर्वाङ्गिक मन एकाग्र होना आरम्भ होता है। धारणा कहाँ करनी चाहिए इस विषय में शास्त्रों के अनेक मत हैं किन्तु व्यास देव जी योग-दर्शन के भाष्यकार ने धारणा के इस प्रकार बतलाये हैं—

नाभिचक्रे, हृदय पुण्डरीके, मूर्ध्नि ज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्रे, इत्येवमादिषु देशेषु, बाह्ये वा विषये, चित्तस्य वृत्ति मात्रेण बन्ध इति धारणा।

अर्थात् नाभि चक्र, हृदय कमल, मूर्ध ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वा अग्र इत्यादि

स्थानों पर चित्त की वृत्ति मात्र को एकाग्र करना धारणा कहलाती है। वृत्ति मात्र कहने का अभिप्राय यह है कि इसमें हम अपने मन की वृत्ति कल्पनात्मक रूप से चिन्तन करें, जिस प्रकार से आँख रूप को प्रत्यक्ष देख लेती है और मन उस रूप की भावना किया करता है। वैसे चुने हुए विषय को मन का भावना रूप में चिन्तन करना ही वृत्ति मात्र है। इसका अभिप्राय इस प्रकार समझ लेना चाहिए, जैसे हमने हृदय कमल में भगवान् शिव के स्वरूप पर धारणा करना आरम्भ करें और कल्पना से उनके स्वरूप को हम हृदय में बैठा हुआ देखने लगें तो यही हृदय कमल की धारणा है। बार-बार कल्पना से भगवान् शिव, श्रीराम, श्रीकृष्ण, श्री विष्णु या अन्य किसी भी इष्टदेव के स्वरूप का हृदय कमल में चिन्तन करना यह हृदयपुण्डरीक में होने वाली धारणा है इसी प्रकार से मूर्धा ज्योति, नासिका अग्र, जिह्वाग्र, नाभि चक्र आदि में धारणा की जाती है। धारणा करने वाले व्यक्ति को चाहिए कि वह फल की इच्छा को छोड़ करके कर्म को करता रहे। किसी भी काम में मनुष्य जल्दी परिणाम को प्राप्त नहीं कर सकता। भगवान् पतंजलिदेव का आदेश है:—

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः।

अर्थात् किसी भी अभ्यास को हम करना शुरू करें तो उसके परिणाम की प्रतीक्षा के लिए उसका वर्षों तक लगातार करते रहना बहुत आवश्यक है। यह नहीं कि हम एक-दो दिन करके ही उसके परिणाम पर नजर रखने लगें। काफी लम्बे समय तक उस अभ्यास को करना चाहिए और लगातार करना चाहिए अर्थात् इस नियम में कोई विघ्न नहीं आने पावे। आज कर लिया कल फिर छूट गया, फिर दो चार रोज करके फिर कुछ समय के लिए छूट गया—इस प्रकार का अभ्यास सफलता के उच्चतम स्तर पर नहीं ले जा सकता। इसके साथ-साथ एक बात यह भी परमावश्यक है कि हम श्री गुरुदेव के वचन पर विश्वास करके उस अभ्यास को करें जिसमें हमारी श्रद्धा परिपूर्ण रूपेण हो, हमने किसी मन्त्र का जाप शुरू किया और उसमें हमारी आस्था न हुई तो उसका भी परिणाम जल्दी श्रेयस्कर नहीं हो सकता। जैसे शास्त्रीय नियम के अनुसार "अकर्मणो कर्मम् श्रेयः" न करने से कुछ करना ही अच्छा है, इस बात को विचार में रखते हुये जो कुछ भी किया जाय, कुछ न कुछ भले के लिए तो होता ही है, किन्तु यदि हम उसके उत्तम और अन्तिम निष्कर्ष को देखना चाहते हैं तो उपरोक्त तीनों नियमों का पालन करना हमारे लिए बहुत ही आवश्यक है। इसलिए

धारणा को भी परिपक्व करने के लिए हमें कम–से–कम तीन साल तक एक विषय पर ही परिपक्व मन लगाना चाहिए। तीन साल तक मंद मन्त्राधिकारी भी उपरोक्त सूत्र के अनुसार धारणा का अभ्यास करेगा तो उसका भी मनोबल अवश्य बढ़ेगा ही बढ़ेगा। धारणा के अभ्यास से मन में विचार करने की उच्च स्तर की योग्यता प्रकट हो जाती है और वह एकाग्रता की ओर चलने लगता है। भगवान पतञ्जलि देव ने योग-दर्शन में कहा है :—

धारणासु च योग्यता मनसः।

अर्थात् धारणा करने पर मन की योग्यता बढ़ती है। मन में बल का विकास होता है। और वह सब कुछ करने की शक्ति वाला बन जाता है। जो व्यक्ति दो या तीन साल तक लगातार प्रातः व सायंकाल १–१ घण्टे अपने ध्येय विषय को धारणा करके उसको वृत्ति निरोध से एकाग्रित करना चाहता है उसका ऐसा लगातार अभ्यास करने पर अवश्य ही वह विषय उसके मन में प्रकट होने लगता है। मन को एकाग्र करने के कुछ इस प्रकार के नियम हैं कि जिनके पालन करने से हर मनुष्य का मन एकाग्र हो ही जाता है। यदि वह किसी अच्छे कण्ट्रोलर अर्थात् अच्छे नियन्त्रक गुरुदेव की आज्ञा में रहकर अपने अभ्यास को नियमानुसार करता है तो इस प्रकार से लगातार किया हुआ यह धारणा अभ्यास स्वतः ही ध्यान के रूप में बदल जाया करता है।

◆

संसार

अधिकांश व्यक्ति संसार को दुःख और अशांति का घर समझते हैं। बहुत थोड़े व्यक्ति संसार को सुख और सौन्दर्य का धाम मानते हैं वस्तुतः संसार में सुख और दुःख दोनों होते हैं परन्तु दुःख की अपेक्षा सुख अधिक होता है। संसार का सुख या दुःख पूर्ण होना मनुष्य की अपनी मनः अवस्था पर निर्भर होता है, अतः संसार के वास्तविक स्वरूप को भली-भांति जान और समझकर अपने को संसार के योग्य और संसार को अपने योग्य बनाना कल्याण प्रद होता है।

लोग संसार की निन्दा करते हैं। संसार की निन्दा करने की अपेक्षा उसका रहस्य जानना उत्तम है। लोग संसार की उपेक्षा करते हैं। उपेक्षा करने से उसका अध्ययन करना श्रेयस्कर है। लोग संसार का दुरुपयोग करते हैं। दुरुपयोग करने की अपेक्षा उसका सदुपयोग करना कल्याणकारी है।

—श्री रघुनाथ प्रसाद पाठक

बौद्ध दर्शन में 'भाव-लोक'

—एक अन्वेषक

भगवान बुद्ध से उनके शिष्यों ने निर्वाणावस्था में हुई उपलब्धियों के बारे में प्रश्न पूछे—तो उनने कोई उत्तर न दिया, मौन रहे। इस पर शिष्यों ने अपने-अपने ढंग से अनुमान लगाये। बुद्ध ने सोचा वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँचे हैं और वे अनिश्चय की स्थिति में रह रहे हैं। व्याख्याकारों ने बाद में उनके इस मौन को शून्यवाद ठहराया और आत्मा-परमात्मा तथा संसार के सम्बन्ध में उनकी मान्यता अनिश्चित ठहराई। अस्तु बुद्धवाद को प्रच्छन्न नास्तिकवाद तक कहा जाने लगा।

गहराई में उतरकर देखने वालों ने बुद्ध मान्यता को भाव दर्शन में निरूपित किया है। वे इस संसार का तथा जीवन [illegible] व्यक्ति विशेष को निर्धारित मान्यताओं के अनुरूप बताते थे और जीवन तथा संसार को भाव लोक कहते थे। अनुभूतियाँ भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की भिन्न-भिन्न प्रकार की इसी आधार पर होती हैं।

एक व्यक्ति अपने को चोर मानता है। वह उसी स्तर के साथी सहयोगी तलाश कर लेता है। उन्हें ही बुद्धिमान मानता है जो वस्तुएँ जहाँ रखी हैं वे वहाँ से किस प्रकार चोरी करके हथियाई जा सकती हैं। इसका ताना-बाना बुनता है। घर आकर सभी को सावधान करता है कि प्रत्येक चोरों की भर-मार है। ऐसा न हो कि सामान कोई चुरा ले जाय। जो कुछ कमाया जमा है, उसे छिपाकर रखता है कि किसी पर भेद न खुले।

चोर व्यक्ति के लिये संसार एक अच्छा-खासा चोर-लोक है। वह अपने असली स्वरूप को लोगों की आँखों से छिपाता रहता है। इसके लिए ऐसा कृत्य करता और वचन बोलता है जिससे उसे बुराई और छिपाने में प्रवीण समझा जा सके। कल्पनाएँ वह इसी स्तर की करता और योजनाएँ इसी सन्दर्भ की बनाता है। यह उसका स्वनिर्मित लोक है जिसमें जिन्दगी भर निवाह करते रहने की पूरी गुंजायश है।

एक व्यक्ति विलासी है। उसकी दृष्टि उपभोग सामग्री पर ही लगी रहती है। सुविधा और सुन्दरता की तलाश लगी रहती है। वह ऐसे ही वातावरण के साथ सम्बन्ध जोड़ता है। ऐसों से ही घनिष्ठता बढ़ाने के लिए प्रयत्नशील रहता है। कामुक साहित्य

पढ़ने, गंदी फिल्में देखने तथा उन्हीं प्रसंगों की चर्चा कहने सुनने में ही रस आता है। किस इन्द्रिय के द्वारा, किस प्रकार, क्या रसास्वादन किया जा सकता है, इसी की कल्पनाएँ उठती रहती हैं। विलास प्रसंग वाली बातों का ताना बाना बुनने में समय बीतता है। सम्पदा का बड़ा भाग इसी में खर्च हो जाता है। विलासी लोगों की जीवन-चर्या कहाँ किस प्रकार चलती है। वे किस प्रकार नये साधन जुटाते हैं, इसी की खोज-खबर में आठों-याम लगे रहते हैं। इस सन्दर्भ का रोचक ज्ञान, अनुभव, इतना इकट्ठा हो जाता है कि उन्हें विलास का विश्व कोश कहा जा सके। ऐसे लोगों का संसार 'विलास संसार' है।

कुचक्रियों की एक अलग ही दुनिया है उन्हें छल प्रपंच के बिना चैन नहीं। किसी मजबूरी से विवश होकर वे दुरभिसन्धियाँ बुनते हों ऐसी कोई बात नहीं होती। न वे भूखे होते हैं—न दरिद्र, न अशक्त अपंग न असहाय। तो भी उनका चिन्तन एवं प्रयास जुटाने में ही लगा रहता है जिसमें आदि से अन्त तक धोखेबाजी और तिकड़म भिड़ाने का ताना बुना गया हो।

योग्यता की दृष्टि से वे गये गुजरे नहीं होते। उपलब्ध बुद्धिमत्ता की पूँजी से किसी उपयुक्त कार्य में लगाया जाय तो उससे कहीं अधिक सफलता प्राप्त कर सकते, जितनी कि छल-बल से प्राप्त कर पाते हैं। पर किया क्या जाय? उनकी विवशता है। मान्यताओं, अनुभवों और आदतों के सहारे उनने जो लोक गढ़ लिया है उसमें उनके दाव-पेंच और तोड़-फोड़ भरे हैं। अस्तु, जीवन प्रवाह ही उस स्तर का बन गया है। वे अपने विनिर्मित छद्मलोक में प्रसन्न भी रहते हैं और कई बार अपनी चतुरता का गर्व भरा बखान भी करते हैं।

सन्त, सज्जन, लोक सेवी, परमार्थ परायण, महामानवों की दुनिया अन्यान्यों से सर्वथा भिन्न है। उन्हें न लाभ सताता है न मोह। न वासना का नशा चढ़ा होता है न तृष्णा की आग में झुलसते हैं। सीधा, सौम्य, सादगी का जीवन जीते हैं और उच्च विचारों में रमण करते हैं। उनके साथ सहयोगी उदार हृदय के होते हैं। स्वाध्याय और सत्संग के माध्यम से उनका परिष्कृत दृष्टिकोण बना रहता है। उत्कृष्ट सोच और आदर्श को कार्यान्वित करते हैं। असहयोगी, विरोधी, व्यंग्य उड़ाने और मूर्ख बताने वालों की कमी नहीं रहती। तो भी वे किसी के परामर्श सहयोग की परवाह न करते हुए एकाकी अपने मार्ग पर चलते हैं। दूसरे लोग जहाँ धन, वैभव अर्जित करने में [illegible] देते हैं वहाँ उनको इस घुड़दौड़ में भागने की इच्छा

तक नहीं होती। जल-बन्धनों से बचते-बचाते अपनी नाव को केवट ले जाते हैं साथ ही उस पर बिठाकर अनेकों को उस पार पहुँचाते हैं। इस समुदाय की दुनिया भी अनोखी है जिसकी सामान्य जनों के साथ संगति नहीं बैठती। सन्तोष और आनन्द जहाँ भी इसमें किसी से कम नहीं मिलता।

एक घर में रहने वाले सदस्यों का खान-पान रहन-सहन तो एक जैसा होता है पर संसार सबका अलग-अलग। छोटे बच्चे खेल खिलौने में रमते हैं। उनकी कल्पनाएँ, मान्यताएँ, भावनाएँ, इच्छाएँ ऐसी होती हैं जिन्हें बड़ों से सर्वथा भिन्न कहा जा सके। किशोरों की मस्ती का कहना क्या? पग पग पर रोकना पड़ता है अन्यथा आसमान में उड़ने और हवा में तैरने लगें। वयोवृद्धों का मन कहाँ अटका रहता है वे क्या चाहते हैं, उसका बाल चित्र तैयार किया जा सके तो प्रतीत होगा उनकी दुनिया कितनी नीरस और कष्टसाध्य है। मौत के दिन भयभीत रहकर भी गिनते रहते हैं। युवकों की रंगरेलियों उमंगों और महत्वाकांक्षी योजनाओं का संसार ही अलग है। वे न जाने क्या-क्या करना और क्या-क्या बनना चाहते हैं। अहंता नस-नस से टपकती है। दिन भर सपने और दर्पण देखते हैं।

सयानी लड़की किसी घर की रानी होने का सपना देखती है और सहसा स्वर्ग पर उछलकर किसी घर के आंगन में नाचने के साज संजोती है। मानो तो किस तेजी से अपने में धुन बदलती है उसे देखकर आश्चर्य होता है। अभी-अभी प्रतियोगिताएँ जीतने वाली बाला—कुछ ही महीने बाद घूँघट लगाये बहू—साल छः महीने के भीतर जननी, बाद में गृह स्वामिनी और दिन बीतने नहीं पाते कि सास बनकर स्वामित्व बहू के हवाले करती है। इन स्थितियों के बीच असाधारण अन्तर होता है।

बूढ़ों का मानसिक जीवन और भी विचित्र होता है। वनों में निवास करने वाले पशु की परिस्थितियाँ और भी विलक्षण होती हैं। रोगी कितना कमजोर और असहाय होता है। दरिद्र पर क्या बीतता है। अपराधी क्या सोचता है। श्रमिक का दर्द किस भाषा में बोलता है। यह देखने और इन सबकी भिन्नताएँ आँकने पर प्रतीत होता है कि पञ्च तत्वों से बनी और धरती आकाश के बीच बसी एक ही प्रत्यक्ष दुनिया में कितने अधिक अन्तर विद्यमान हैं और कितने लोग इसके नीचे कितनी प्रकार की मान्यताएँ संजोये बैठे हैं। यह एक अच्छा-खासा अजायब घर है। पागल खाने की संज्ञा देना तो ठीक न होगा।

(शेष टाइटिल के तीसरे पृष्ठ पर)

वेदान्त सिद्धांत और व्यवहार

—श्री स्वामी शारदानन्द जी

भारत में यह श्रेष्ठ वेदान्त दर्शन हजारों पहले प्रकाश में आ चुका था, पर इसका आविर्भाव कब हुआ, इसके सम्बन्ध में कोई निश्चित काल निर्धारित करना कठिन है। इसका अस्तित्व हम बौद्ध धर्म तथा बौद्धकाल पूर्व के दो महाकाव्य—रामायण और महाभारत के भी बहुत पहले पाते हैं। भारत में विद्यमान सभी विभिन्न धर्मों तथा मत-मतान्तरों का परीक्षण करने पर हमें वेदान्त के सिद्धांत उन प्रत्येक में निहित मिलते हैं; इतना ही नहीं, वेदान्त-मत-प्रवर्तक ऋषि अथवा विचार-द्रष्टा तो यहां तक साधिकार कहते हैं कि पृथ्वीतल पर इस समय प्रचलित सभी धर्मों में इसके सिद्धान्त विद्यमान हैं और भविष्य में आने वाले सभी धर्मों में भी रहेंगे। वेदान्त जिस लक्ष्य की ओर निर्देश करता है यह वही लक्ष्य है जिसकी ओर सभी धर्म, सभी समाज और सम्पूर्ण मानव-जाति क्रमविकासतत्त्वानुसार ज्ञात अथवा अज्ञात रूप में अग्रसर हो रही है।

इस दर्शन की एक बहुत बड़ी विशेषता यह है कि इसका निर्माण किसी एक व्यक्ति या धर्म-प्रवर्तक द्वारा नहीं हुआ है। जैसा कि 'वेदान्त' शब्द बतलाता है, इसकी रचना वेदों के उत्तरखण्ड अर्थात् ज्ञानकाण्ड के आधार पर हुई है। प्राचीनतम हिन्दू भाष्यकार के अनुसार संस्कृत धातु विद् (जानना) से निष्पन्न 'वेद' शब्द का अर्थ है समस्त अतीन्द्रिय दिव्य ज्ञान जो मनुष्य को अब तक प्राप्त है तथा जो भविष्य में प्राप्त होगा और जिन ग्रन्थों में यह ज्ञान संचित है, उनके लिए यह बाद में व्यवहृत होने लगा। वेदों के भाष्यकार तो यह भी कहते हैं कि यह दिव्य ज्ञान केवल हिन्दुओं को ही नहीं, अन्य लोगों को भी व्यक्त हुआ होगा और उनका अनुभव भी वेद माना जाना चाहिए। वेद दो बड़े भागों में विभक्त किये गये—

(१) 'कर्मकाण्ड' जो मनुष्य को यह सिखलाता है कि कर्तव्य नैतिकता का पालन तथा अन्य अनुष्ठानों द्वारा वह स्वर्ग को—जो कि भोग का उच्च स्थान है—प्राप्त कर सकता है।

(२) 'ज्ञानकाण्ड' जो उसे यह सिखलाता है कि उसका लक्ष्य स्वर्ग का उपभोग भी नहीं होना चाहिए, क्योंकि वह भी क्षणिक और अनित्य है, वरन् उसका ध्येय यह होना चाहिए कि सर्वविध इन्द्रियग्राह्य जगत से परे होना तथा अपने आप में उस अद्वितीय सर्वव्यापी ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेना, जो कि समस्त ज्ञान एवं शक्ति का केन्द्र है। अवश्य ही हिन्दुओं को इस दर्शन को अभिव्यक्त करने में सदियों का समय लगा।

दर्शन की चर्चा करते हुए हमें इस बात का सर्वदा ध्यान रखना होगा कि भारत में यह धर्म से विलग कभी नहीं गया। ये दोनों ही सर्वदा साथ-साथ चलते रहे। समष्टि रूप से मनुष्य के अनुकूल होने के लिए धर्म केवल हृदयग्राह्य ही नहीं, वरन् बुद्धिग्राह्य भी होना चाहिए और इसीलिए उसका अध्यात्म विचार के सुदृढ़ आधार पर प्रतिष्ठित होना ही आवश्यक है; क्योंकि क्या मनुष्य विचार- आवेग और इच्छाशक्ति का सम्मिश्रण है ? क्या कोई भी एक धर्म जो इन तीनों में उसकी सर्वोच्च आकांक्षाओं की पूर्ति नहीं करता, उसे सन्तुष्ट कर सकता है ?

विज्ञान की द्रुतगति और बाह्य तथा भौतिक संसार के अध्ययन द्वारा प्रतिदिन होने वाले उसके आश्चर्यजनक आविष्कार अनेक व्यक्तियों के हृदय में भय उत्पन्न कर रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि वे यह सोचने लगे हैं कि दिनोंदिन धर्म की नींव ही उखाड़ी जा रही है और इस आधारशिला पर निर्मित सम्पूर्ण सामाजिक रूपरेखा आसन्न संकट में पड़ गयी है। पर प्राचीन द्रष्टाओं ने आभ्यन्तरिक संसार के अध्ययन द्वारा धर्म नैतिकता, कर्तव्य तथा ब्रह्मांड में प्रत्येक वस्तु का आधार उस एकता में पाया जो इस विश्व की पृष्ठभूमि है तथा जो सच्चिदानन्द स्वरूप महासागर है जिससे इस विश्व की उत्पत्ति हुई है। यदि वे प्राचीन द्रष्टा आज यहां होते उन्हें यह देखकर प्रसन्नता होती कि नींव उखाड़ने के बदले विज्ञान धर्म के आधार को इतना सुदृढ़ करता जा रहा है जितना यह पहले कभी नहीं था। क्योंकि यह उसी लक्ष्य-उसी एकता-की ओर वेग से अग्रसर हो रहा है। और यह ऐसा ही होना चाहिए; क्योंकि क्या विश्व समष्टि रूप में सम्बद्ध एक और अखण्ड नहीं है? क्या आन्तरिक और बाह्य रूप में इसका विभाजन स्वेच्छाचारिता नहीं है? क्या बाह्य विश्व का उसके वर्तमान रूप में हमें कभी ज्ञान हो सकता है? मुख्यतः, हम जिन प्राकृतिक नियमों की चर्चा करते हैं जो बाह्य जगत् का संचालन करते हैं, किन्तु हमारा मन ही बाह्य विश्व में घटने वाली घटनाओं की श्रृंखला को एक विशिष्ट पद्धति द्वारा श्रेणीबद्ध करता है। क्या ये प्राकृतिक नियम इस विशिष्ट मानसिक पद्धति के अतिरिक्त और कुछ हैं? वेदान्त के अनुसार यह विश्व एक सम्बद्ध समवाय है। बाह्य जगत् से प्रारम्भ कर आप आन्तरिक में तथा आन्तरिक से प्रारम्भ कर बाह्य जगत् में पहुंच जायेंगे। सच्चिदानन्द रूपी अनन्त महासागर से यह विश्व प्रकट हुआ है और पुनः उसी में विलीन हो जायगा। अनन्तकाल से यह विश्व क्रमशः विकसित और क्रमशः संकुचित होता आ रहा है। यदि हमें एक इकाई के रूप में देखें तो हमें प्रतीत होगा कि इसमें न परिवर्तन ही सम्भव है न गति। यह पूर्ण है और सर्वविध तथाकथित परिवर्तन इसी में विद्यमान है-फिर भी यह इकाई ज्यों की त्यों बनी रहती है। परिवर्तन और गति तभी सम्भव है जब तुलना का भाव हो, पर तुलना दो या अधिक वस्तुओं में ही हो सकती है। यह क्रमविकास और क्रमसंकोच, यह अभिव्यक्ति और अव्यक्त या बीजरूप में पुनरावर्तन-इस क्रम का किसी समय विशेष से प्रारम्भ नहीं हो सकता। इसका प्रारम्भ स्वीकार करने का अर्थ होगा सृष्टिकर्ता का प्रारम्भ स्वीकार करना और इतना ही नहीं,

यह भी कि वह सृष्टिकर्ता निर्दय और पक्षपाती है जिसने प्रारम्भ में ही इन विभिन्नताओं को जन्म दिया है। फिर एक और कठिनाई उत्पन्न हो सकती है: सृष्टिकर्ता अर्थात् ब्रह्म कारण सृष्टि द्वारा सम्पूर्ण या असम्पूर्ण बनाया गया होगा। अतः वेदान्त के अनुसार सृष्टि भी उतनी ही नित्य है जितना स्वयं सृष्टिकर्ता; बात केवल इतनी है कि वह कभी व्यक्त अवस्था में रहती है और कभी अव्यक्त अवस्था में। तब इस सृष्टि का, क्रमविकास और क्रमसङ्कोच के निरन्तर प्रवाह का तात्पर्य और उद्देश्य क्या है? वेदान्त इसका जो उत्तर देता है वह यह है कि यह अनन्त ब्रह्म का एक खेल है। सम्पूर्ण अविज्ञेय ब्रह्म को बिना असम्पूर्ण बनाये हम उसमें अभिप्राय का आरोप नहीं कर सकते। सृष्टि करने की धारणा करने के लिए अवश्य ही सम्पूर्ण अनन्त का कोई अभिप्राय नहीं होता। अनन्त को सर्वतोभावेन मुक्त और स्वतन्त्र होना चाहिए, और यह सापेक्ष और सान्त की कल्पना ही उस निरपेक्ष और अनन्त के अस्तित्व को सूचित करती है। एकमेवाद्वितीय ब्रह्म ही वास्तव में एकमात्र है और आनन्द के उस असीम महासागर में यह विश्व केवल एक बिन्दु के समान है। वह अपने आप से ही निकलता है और इस [illegible] जगत् के रूप में प्रकट होता है। इन भिन्न-भिन्न असम्पूर्ण वस्तुओं के रूप में यह अभिव्यक्त होता है और साथ ही उसके पूर्णत्व और आनन्द का ऐश्वर्य ज्यों का त्यों बना रहता है। इस प्रकार संसार में "वह क्रियाशील है और निष्क्रिय भी, वह दूर भी है और समीप भी, वह सबके भीतर विद्यमान है और बाहर भी है।" १ 'जिस प्रकार जाल में बैठा हुआ मकड़ा जाल फैलाता है और तारों को पुनः समेट लेता है, जिस प्रकार बिना किसी प्रयास के, मनुष्य के सिर पर बाल उगते हैं उसी प्रकार ज्ञान एवं आनन्द के उस असीम महासागर से यह विश्व निकलता और पुनः उसी में विलीन हो जाता है।"२

क्रमविकास के कारण की खोज के द्वारा विज्ञान एक जाति के (Species) के अन्य प्रकार की जाति में परिवर्तन के लिए योग्यतम की अवस्थिति (Survival of the fittest) और 'यौन-निर्वाचन' (Sexual selection)

---

१ तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

—ईशोपनिषद्, ५

२ यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात्केशलोमानि तथाक्षरात्सम्भवतीह विश्वम्॥

मुण्डकोपनिषद्, १/७

सम्बन्धी सिद्धान्त पर पहुँचा है। जहाँ तक सृष्टि सम्बन्धी क्रमविकास की धारणा का प्रश्न है, वेदान्त इससे सहमत है, पर इससे उसका मतभेद इसलिए है कि वह कहता है कि एक प्रकार की जाति के अन्य प्रकार की जाति में परिवर्तन का कारण है प्रत्येक रूप में विद्यमान परमात्मा का अपने को उत्तरोत्तर रूप में व्यक्त करने के लिए संघर्ष। जैसा कि हमारे एक बहुत बड़े दार्शनिक का कहना है कि सिंचाई के मामले में, जहाँ तालाब ऊँची सतह पर स्थित है, पानी खेत में बहने की सर्वदा चेष्टा करता रहता है, पर व्यवधान द्वारा रोक दिया जाता है। व्यवधान हटते पानी अपनी प्राकृतिक शक्ति से ही बह जायेगा। परमात्मा के इस संघर्ष ने मानव रूप-तक उत्तरोत्तर उच्च रूपों को उत्पन्न अथवा व्यक्त किया। आज भी उसी प्रकार प्रगतिशील है और वह तभी होगा जब परमात्मा, अपने आप बिना किसी बाधा के, पूर्ण रूप में अभिव्यक्त कर देगा। क्रमविकास की उच्चतम भूमि यह है जहाँ इन्द्रियग्राह्य विषय अतिक्रमण होकर इन्द्रियातीत अद्वितीय चैतन्यसत्ता में अवस्थित होती है। विकास की इस अवस्था में मनुष्य बहुत पहले पहुँच चुका है। ईसा, बुद्ध तथा उनके समान संसार के बड़े आचार्य इस अवस्था में पहुँच चुके हैं। अज्ञात रूप में सम्पूर्ण मानव जाति उसी की ओर अग्रसर हो रही है। पर क्या क्रमविकास की यह सर्वोच्च पूर्ण अवस्था सम्भव है? वेदान्त कहता है, 'हाँ, अवश्य ही'; क्योंकि क्रमसङ्कोच के बिना क्रमविकास कभी हो ही नहीं सकता। इस विकास का अनन्त फल स्वीकार करना एक सरल रेखा में अनन्त गति को स्वीकार करने के समान होगा जिसे आधुनिक विज्ञान ने असम्भव बताया है। यह पूर्ण विकास प्राप्त करने में समाज को अनेक युग लग जायेंगे, पर मनुष्य इसे इसी जीवन में प्राप्त कर सकता है और उसने किया भी है। यह बात हम संसार के धार्मिक इतिहास में देख पाते हैं। बाइबिल आदि क्या है?—केवल उन मनुष्यों के अनुभव का लेखा जो उस अवस्था में पहुँच चुके हैं। उन्हें अच्छी तरह पढ़कर देखें तो आपको पता चल जायगा कि यह अवस्था जिसे वेदान्त ने सुप्रसिद्ध सूत्र 'तत्त्वमसि' में व्यक्त किया है (अर्थात् तुम ही ज्ञान आनन्द का यह अनन्त महासागर हो), वही अवस्था बुद्ध द्वारा व्यक्त की गयी निर्वाण-प्राप्ति की अवस्था है। वही अवस्था ईसा द्वारा व्यक्त की गयी स्वर्ग में रहने वाले 'पिता' के समान पूर्णता प्राप्त करने की, तथा मुस्लिम सूफियों द्वारा व्यक्त की गयी खुदा के साथ एकत्व-प्राप्ति की भी अवस्था है। वेदान्त का यह कथन है कि मनुष्य की पशु से एकत्व-प्राप्ति (अर्थात् उसकी वास्तविक प्रकृति अनन्त और अबाध है) का यह विचार भारत या उसके बाहर के प्रत्येक धर्म में विद्यमान है।

ईश्वर निष्ठा के दो प्रेरक प्रसंग—

साक्षी कोदण्डपाणि

श्री केशव उपाध्याय, वाराणसी

साक्षी कोदण्डपाणि

रुपये की माया सदा से मनुष्य को मोहित करती रही है। मनुष्य ने कितना पाप, कितना छल, कितना विश्वासघात किया है और कर रहा है, इस रुपये के पीछे, कोई गणना नहीं है। यह घटना दक्षिण भारत के किसी जिले की है। इसका समय भारत स्वातंत्र्य प्राप्ति के आस-पास ही है।

एक गरीब ब्राह्मण के मन में तीर्थयात्रा करने का विचार आया। सम्पन्न और विश्वासी समझकर उसने अपनी सारी पूँजी एक प्रतिष्ठित सेठ के यहाँ रख दी और तीर्थ यात्रा करने चला गया। लिखा पढ़ी तब वैसे भी ज्यादा प्रचलित नहीं थी। अपने सरल विश्वास के कारण उसने (ब्राह्मण ने) एकान्त में ही अपना धन सेठ को दे दिया था। भारत में तब इस प्रकार का विश्वास बहुत ही सुलभ था।

जब वह ब्राह्मण अपनी तीर्थ यात्रा पूरी कर वापस लौटा तो सेठ के पास जाकर उसने अपनी पूँजी माँगी। सेठ के मन में लालच पैदा हो गया अतः उसने साफ-साफ इन्कार कर दिया और कह दिया कि आपकी कोई पूँजी हमारे पास नहीं है। सेठ ने व्यंग्य कसते हुए कहा, 'क्या तुम हमें झूठा समझते हो, या बेईमान समझते हो। बताओ कब दिया था तुमने हमें कुछ ?' पहले तो तुम अच्छे आदमी थे, क्या तीर्थ यात्रा के बाद असत्य भाषण आरम्भ कर दिया है।

बेचारा ब्राह्मण स्तम्भित सा हो गया अपमान और असत्य की वेदना सही नहीं गयी। न्यायालय पहुँचा, किन्तु न्यायालय को तो गवाह चाहिये, साक्षी चाहिये। न्यायालय ने जब उससे गवाह का नाम मांगा तो ब्राह्मण ने कहा; वैसे तो मैंने अपनी पूँजी एकान्त में ही दी थी परन्तु मेरे आराध्य 'कोदण्डपाणि' तो सर्वत्र व्याप्त हैं। अतः कोदण्डपाणि ही मेरे पक्ष के साक्षी हैं। सारा न्यायालय वकील और उपस्थित समुदाय ब्राह्मण के सरल स्वभाव और अटूट ईश्वर भक्ति पर चकरा रहा था। न्यायालय ने ब्राह्मण के साक्षी कोदण्डपाणि के नाम न्यायालय में गवाही देने हेतु सम्मन जारी कर दिये।

कोदण्डपाणि नाम का कोई प्राणी तो था नहीं कि जिसे चपरासी जाकर सम्मन देता, परन्तु कोदण्डपाणि का मंदिर तो था ही।

इस नाम का कोई व्यक्ति नहीं मिला तो मंगवालों ने मंदिर के मुख्य द्वार पर सम्मन चिपका दिया। मुकदमे की पेशी हुई, न्यायाधीश के चपरासी ने अपने उच्च स्वर में कोतवालपति की पुकार की।

आश्चर्य, महान आश्चर्य! सरकारी गजट कहता है कि एक वयोवृद्ध, अद्भुत सुन्दर कोतवाल न्यायालय में उपस्थित हो गया। उसने अपना नाम 'कोतवालपति' बतलाया। उसने शपथ लिया और बयान दिया। कोतवालपति ने समझाया कि प्रतिष्ठित सेठ के यहाँ अभी जाँच करवाई जाय, उसका यहाँ एक और रोकड़बही है और उस बही में बाकी रकम की पूँजी जमा है। साक्षी कोतवालपति की सूचना के अनुसार तलाशी हुई। दूसरी रोकड़ बही मिली। प्रतिवादी को पूँजी में नाम जमा दण्ड भी देना पड़ा। इसके पश्चात् बयान पर हस्ताक्षर करने के पूर्व ही "साक्षी कोतवालपति" देखते देखते गायब हो चुके थे।

आगे की बात मत पूछिये। विदर्भ हद शहर के मन्दिर के आराध्य सेठ थे, त्रिभुवन के स्वामी को न्यायालय में बुला लिया। उनकी स्थिति का अर्थ कोई क्या करेगा? प्रतिवादी का क्या हुआ, पता नहीं, किन्तु जज महोदय को इस घटना क्रम का प्रसाद मिल गया और वे पद त्याग कर अमोला आ गये तथा शेष जीवन भगवद् चिन्तन में व्यतीत किया।

× × × ×

यही क्या, कम है ?

प्रत्येक धर्म की कुछ न कुछ अपनी विशेषता होती है। हिन्दू धर्म ने विलक्षण भक्त और योगी पैदा किये, तो जैन धर्म ने अद्भुत तपस्वी। इसी प्रकार इस्लाम धर्म ने अपने खुदा के प्रति अटल श्रद्धा और विश्वास रखने वाले फकीर पैदा किये। प्रभु कृपा से इस्लाम धर्म अनुयायी, एक ऐसे ही अद्भुत विलक्षण फकीर का प्रसंग लिखने का प्रयत्न किया जा रहा है, जो अपनी तपस्या में भी अनोखा हो गया।

यह प्रसंग है, एक फकीर का, जिसकी अवस्था अस्सी वर्ष के लगभग थी। उसके चेहरे पर झुर्रियाँ पड़ गयी थीं तथा उसकी दाढ़ी के बाल बिल्कुल सफेद हो गए थे। उसका हाथ पैर काँप रहा था। करीब पचास वर्षों से वह अपना स्थान छोड़कर एक दिन के लिये भी अन्यत्र नहीं गया था। पत्थर की उस शिला पर, जिस पर वह नमाज पढ़ता था और सिजदा (प्रणाम) किया करता था, उसके सिजदा करते समय सिर रखने के कारण एक छोटा सा गड्ढा बन गया था। मजलिसखाना के रास्ते से गुजरने वाले, वरन नमाजी, उसे भी कुछ श्रद्धा से छोटी सी दुआ प्रदान किया करते थे, वहीं फकीर के

जीवन यापन का एक मात्र साधन था ।

लगभग पूरी अवस्था नमाज़ में व्यतीत कर देने वाले, इस बूढ़े फ़कीर के नमाज़ करने की बात, एक दिन एक फ़रिश्ते के मन में आयी । इसके पश्चात् घटना क्रम इस प्रकार घटित हुआ ।

बूढ़े ने भी शाम की नमाज़ अदा करके सिर उठाया तो देखा कि उसके सामने चमकते पंखों वाला एक फ़रिश्ता खड़ा है ।

फ़रिश्ते ने व्यंग्यात्मक ढंग से कहा, "बेवकूफ बुड्ढे ! तू नाहक इतने दिनों से परेशान हो रहा है । तेरा कोई नमाज़, तेरी कोई इबादत अब खुदा के पास पहुँचती है, तो तुझे नासमझ समझकर खुदा उसे स्वीकार नहीं करता ।"

फ़रिश्ते की बात सुनकर, वह बुड्ढा नमाज़ी मुसलमान खुशी से नाचने लगा । उसने फ़रिश्ते के दामन चूमे और फ़रिश्ते के चरणों में इतनी बार प्रणाम किया कि वह थकान-चकना हो गया । फ़कीर बारम्बार यही कहता रहा, "या खुदा ! हे रहम मेरे मालिक, तू कितना दयालु है, तू कितना दयालु है ।" फ़रिश्ते को ऐसा लगा कि उसकी बात सुनकर नमाज़ी मुसलमान, खुदा के प्रेम में पागल हो गया ।

नमाज़ी मुसलमान की स्थिति कुछ सामान्य होने पर, फ़रिश्ते ने उससे आश्चर्य प्रकट किया "मगर तू इतना खुश क्यों हो रहा है ?"

बुड्ढे ने आनन्द सागर में प्रेम की डुबकी लगाकर प्रसन्नता से उत्तर दिया, "यह क्या कम है, कि मेरे खुदा को यह पता है कि एक नाचीज़, उसे सिजदा कर रहा है । उसे नमाज़ अदा कर रहा है ।"

फ़रिश्ते की आँखें देख रही थी और उसने देख लिया कि उस बुड्ढे फ़कीर पर खुदा के प्रेम का जलवा रोशन हो चुका था और तब वह नसीहत करने को आया फ़रिश्ता, खुद (स्वयं) ही नमाज़ी मुसलमान को सिजदा करने के लिए आगे बढ़ गया ।

नमाज़ी मुसलमान ने फ़रिश्ते से कहा, "खुदा क्या करता है, इससे मुझे क्या लेना-देना । मुझे जो करना चाहिये, मैं बराबर करता हूँ और वह मेरे मालिक (खुदा) को पता है, यह कम नहीं है ।"

✿ ईश्वर विश्वास ✿

भय का एक मुख्य कारण अपने अन्दर ईश्वर विश्वास का न होना है । हमें ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता पर विश्वास ही नहीं । ईश्वर का अटल विश्वासी सदा निर्भय बना रहता है । उसे संसार की भयंकर से भयंकर शक्ति भी भयभीत नहीं कर सकती । वेद में कहा गया है—

सख्ये त इन्द्र ! वाजिनो मा भेम शवसस्पते ।

हे समस्त बलों के अधिपति इन्द्र ! हम तेरे मित्र बनकर संसार की किसी भी से न डरें । ✿

गुरु देव का प्रेम

● श्री विष्णुप्रसाद व्यास

ईश्वर का प्रेम अपने हृदय में देखने के लिये सद्गुरु से प्रेम अति आवश्यक होता है। सद्गुरु प्रेम के सागर एवं भण्डार होते हैं। उनकी कृपा से ही जीव के हृदय में प्रेम की बहार दौड़ती है, और प्रेमी का रसिक हृदय आनन्द से अघाता नहीं हो पाता। और पहिले ही पतंगे का प्रेम देखो। वह दीपक की लौ पर किस प्रकार आत्म-समर्पण कर बैठता है, किन्तु यह पतंगा तो अभी अभी आया, वह दीपक न जाने कब से जल रहा है, उसे दमकता देखते ही पतंगा अपने को जला बैठता है। गुरु के हृदय में प्रेम का यही शाश्वत दीप जल रहा है, प्रेम की सुरती प्रीतम से है।

गुरु के बिना प्रीति उत्पन्न नहीं होती, और न ही प्रेम की सम्पत्ति मिल सकती है। प्रभु प्रेम है और प्रभु स्वयं गुरु में है तथा गुरु प्रभु से मिलता है।

प्रेम की आग पहिले बाबा के दिल में न जाने कब से जल रही है। यदि यह आग पहिले से जली नहीं होती तो परवाना उसमें जलकर खाक कैसे हो जाता। अतः गुरु की कृपा से ही प्रेम फूटता है। वही प्रेम का भण्डार है, जिसे प्रेम मिला है मालिक से गुरु रूप में उसे दिया है। ईश्वर स्वयं कृपा करके ही प्रेम दान देते हैं।

गुरु ही प्रेम पुञ्ज है। किन्तु यह प्रेम-दान उसी को मिलता है जो गुरु की कृपा से सन्मुख बन जाता है। मन-मुख को यह अलौकिक प्रेम रस का स्वाद नहीं मिलता। गुरु-मुख वही है जो गुरु की ओर उनकी आज्ञा में बैठा है। पतंगे की तरह बिना सोचे समझे प्रेम की लौ में अपनी कुर्बानी कर देता है। जिसका मन प्रीतम के चरणों में लगा है और जो अपने को उसमें आत्मसात कर लेने को विकल है वही असल प्रेमी है।

परम पूज्य वन्दनीय आचार्य चन्द्रमोहनजी महाराज ऐसे ही परम प्रिय, प्रीतम एवं सद्गुरु हैं, उनका हृदय प्रेम से भरा है, उनके तन में प्रेम मन में प्रेम रोम-रोम में प्रेम ही प्रेम भरा है। वे प्रेम के पुञ्ज हैं। अपने प्रीतम प्यारे श्री प्रभुजी के प्रेम में ऐसे मग्न हैं कि उनकी आँखों में वह सनातन प्रीतम स्वयं प्रेम बनकर छाये रहते हैं।

यही प्रेम की मदिरा सदा श्री गुरुदेव की आँखों से छलकती रहती है। जो कोई किसी

वहाँसे उनकी संगति में क्षण भर जो भी आया उनकी आँखों की मदिरा के नशे चूर-चूर हो जाता है। साधक प्रेमी बन जाता है।

उस प्रेम की मदिरा से अमीर भी मस्त, गरीब भी मस्त, अपना भी मस्त, पराये भी मस्त, गाय भी मस्त, ढोर भी मस्त, सब लोग मस्त दिखाई देते हैं। जहाँ से प्रीतम प्यारे रहते हैं, वहाँ की मिट्टी भी मस्त, पानी भी मस्त, हवा भी मस्त और अग्नि भी मस्त है।

अपनी हस्ती को इस तरह आपने मिटा कर रखा है, और अपने प्रभुजी में उसे लय कर दिया है, कि उसमें स्वयं छिप गये और उनके गुरुदेव (प्रभुजी) उसमें प्रकट हो गये। यही प्रेम का असल तरीका है जिसमें जीव ईश्वर रूप हो जाता है उसका अहम् समाप्त हो जाता है और परमात्मा ही परमात्मा उसे नजर आता है यही उनके हृदय में रह जाता है। अब उसका अन्दर में भी परमात्मा और बाहर भी परमात्मा दीख पड़ते हैं, क्योंकि अन्दर बाहर, सर्वत्र तो केवल वही एकमात्र परमात्मा ही है। इसे ही ईशावास्योपनिषद् में कहा गया है —

“ ॐ पूर्णमदः पूर्ण मिदं
पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय
पूर्णमेवावशिष्यते ॥”

अर्थात् वह सच्चिदानन्द घन पर ब्रह्म पुरुषोत्तम सब प्रकार से सदा परिपूर्ण है। जगत् भी उस पर ब्रह्म से ही है। क्योंकि यह पूर्ण उस पूर्ण पुरुषोत्तम से ही उत्पन्न हुआ है। इस प्रकार पर ब्रह्म की पूर्णता से जगत् पूर्ण होने पर भी वह पर ब्रह्म परिपूर्ण है।

उस पूर्ण में से पूर्ण को निकाल लेने पर भी वह पूर्ण ही बच रहता है। श्री गुरुदेव ने उपनिषद के इस परमात्मा तत्व को हृदयंगम किया और सद्गुरु में अपने को लय कर दिया है तो यह स्थिति स्वतः उत्पन्न आती है। अहं का विसर्जन हो जाता है और यह सभी दृश्य जगत परमात्मा से ओतप्रोत दिखाई पड़ता है। परमात्मा ही परमात्मा केवल शेष रह जाता है परमात्मा और साधक में अभेद हो जाता है।

परमात्मा तत्व को ग्रहण करने के लिये किसी प्रेमी आत्मा की शरण पकड़ो जो ईश्वर में लय हो चुका है उसकी कृपा से ही तुम अपना अहं, अपना द्वैत भाव विसर्जन कर सकोगे और ऐसा कर उसके प्रेम में तुम प्रेम रूप बन जाओगे।

उसने जो कुछ दिया है उसी को भोगो। अपने हृदय में उस दौलत की कल्पना को स्थान न हो जो अपनी नहीं है। प्रेम या हृदय समर्पण का यही गुण है। जिसमें यह गुण आ जाय उसको ही आगे का अधिकार है। जो

तृष्णा और मोह इच्छाओं में फंसा है, उसे इतना पाना कहाँ ? प्रेम और ज्ञान आपस मिलकर एक ही बन जाते हैं। प्रेम द्वारा इस ज्ञान को प्राप्त करेगा क्योंकि प्रेम ही सहज मार्ग है। अतः हे भाई प्रेमी बनो और सद्गुरु के प्रेम में अपने जीवन का कायाकल्प करलो।

तुलसीदास जी ने भी प्रेम की महत्ता दी है—

प्रेम किया जिन्हीं प्रभु पायो।
बिना प्रेम कछु हाथ न आयो।

जिसने प्रेम किया, जो प्रेमी बना उसी को प्रभु प्रीतम के दर्शन हुए। जिसके हृदय में प्रभु की कली खिली ही नहीं वह मुर्दा है। उसमें कोई जीवन नहीं स्पन्दन नहीं। वह स्पंदन शून्य एवं शरीर प्राण रहित शव है।

प्रेम दो दिलों को एक मेल कर देता है और सच्चा अर्थात् अद्वैत बना देता है फिर उनका अलग होना कठिन है जैसे दूध-पानी एक जान हो जाते हैं।

प्रेम-प्रेम सब कोई कहै, प्रेम न चीन्हें कोय।
आठ पहर भीना रहे, प्रेम कहावे सोय॥

प्रेम संसार का प्राण और हमारा जीवन रस है। श्री गुरुदेव के उस प्रेम स्वरूप में हम सभी स्वयं प्रेम रूप बन जायें। श्री गुरुदेव हम सब के हृदय के स्वामी हैं। उनसे यही प्रार्थना है कि हम सबके हृदय में उनका सच्चा प्रेम उतरे और हम सभी अपने मन में उनके प्रेमी बन सकें।

"श्री गुरुदेव की कृपा से सब के जीवन में शान्ति उतरे।"

—x—

यह संसार !

याद रखो ? यह संसार एक बहुरंगी बगीचा है, जिसमें सुविचार रूपी सुमन (फूल) खिल रहे हैं, और कुविचार रूपी कांटे भी। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम सुविचार रूपी सुमनों को चुनो ? किन्तु कुविचार रूपी कांटों को कदापि नहीं। उनसे सदा दूर रहो। यह हो सकता है कि कभी-कभी तुम्हें सुविचार रूपी सुमनों को पकड़ते समय कुविचार रूपी कांटों में भी उलझना पड़े। किन्तु जानकर उलझो ? और यदि न चाहते हुए भी कभी उलझना पड़े तो उनमें उलझे मत रहो, उन से निकलने का भरसक प्रयत्न करो, और अपने प्रबल पुरुषार्थ से उनकी उलझन से निकल कर फिर सुविचार रूपी सुमनों को जाकर पकड़ लो।

अभ्युदय-निःश्रेयस सिद्धि का साधन योग

● एक साधक

धर्म की परिभाषा करते हुए शास्त्रों में कहा गया है।

'यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धि स धर्मः'

अर्थात् जिस प्रकार से इस लोक में उन्नति तथा परलोक में कल्याण की प्राप्ति हो उसे धर्म कहते हैं। मानव-जीवन को सुखी व सफल बनाने के लिए धर्म को धारण किया जाता है। धर्म का प्रतिपादन शास्त्रों में विस्तार से पाया जाता है। धर्म दूसरे अर्थ में भी प्रयुक्त होता है उदाहरण के लिए उष्णता अग्नि का धर्म है। उपर धर्म की जिस प्रकार से परिभाषा दी गई है वह लक्षण योग-विद्या (धर्म) में पूर्ण रूप से लक्षित होता है। धर्म के अन्य अंग मनुष्य को क्षणिक रूप से सुख दे सकते हैं। परन्तु आत्यन्तिक तथा एकान्तिक सुख योग के द्वारा ही सम्भव है। भगवान ने अपने मुखारविन्द से गीता में कहा है।

'तं विद्यात् दुःख संयोग
वियोगं योग संज्ञितम्।

अर्थात् दुःख के संयोग का अत्यन्त वियोग कराने वाले योग को जानना चाहिए।

हमारे ऋषि-मनीषियों ने इसी योग-धर्म पर चलकर यह लौकिक एवं पारलौकिक सुख को पाया। आदिकाल से चला आ रहा यह सार्वभौम तथा शाश्वत धर्म 'योग-धर्म' है। संसार में प्रचलित अन्य धर्म व सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव इसी योग धर्म से हुआ है। मनुष्य-मात्र इस सार्वभौम धर्म को अपना कर यह लोक व परलोक में सुखी बन सकता है। भगवान पतञ्जलि का अष्टाङ्ग योग अभ्युदय-निःश्रेयस के लिए उपादेय है। योग जिज्ञासु को इस ग्रन्थ का अवलोकन अवश्य करना चाहिए।

अष्टाङ्ग योग धर्म प्रथम भौतिक शरीर की महत्ता को स्वीकार कर इसे पूर्ण स्वस्थ बनाना सिखलाता है। आसन, बन्ध मुद्राएँ व प्राणायाम द्वारा पूर्ण शारीरिक विकास होता है। शरीर को स्वस्थ रखने में प्राण का सब से महत्त्वपूर्ण स्थान है। समस्त शारीरिक क्रियाएँ प्राण की ही सहायता से होती हैं। आसन एवं प्राणायाम से प्राणों पर निग्रह किया जाता है।

प्राण तत्त्व सारे विश्व में व्याप्त है। इस पर योगी का अधिकार हो जाने पर अनेकों अलौकिक कार्य कर सकते हैं। मेस्मेरिज्म हिप्नोटिज्म इत्यादि सब प्राण तत्त्व पर ही

आकर्षित है। अपने से बलिष्ठ प्राण वाले पर यह सम्मोहन इत्यादि काम नहीं कर सकते। योगाभ्यासी पर इन का कोई असर नहीं पड़ता क्योंकि उनका प्राण सम्मोहन करने वाले की अपेक्षा अधिक बलिष्ठ एवं तेजोमय होते हैं।

मन तथा प्राण योग साधना के दो मूल तत्व हैं। दोनों में से एक के वश में किए जाने पर दूसरा स्वतः ही वश में हो जाता है, 'मनो जीयते तब प्राणो जीयते' का शास्त्रीय सिद्धान्त है।

शास्त्रों व महापुरुषों ने दुःख सुख का कारण मन को ही बतलाया है।

'मन एव मनुष्याणां
कारणं बन्ध-मोक्षयोः'

मन ही बन्धन और मुक्ति का कारण है।

'मनसा कल्पयते बन्धो,
मोक्षस्तेनैव कल्प्यते'

मन से ही बन्धन की कल्पना होती है, और उसी से मोक्ष की।

सच्चिदानन्द भगवान श्री कृष्णचन्द्र ने भी गीता में कहा है—

'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धु
रात्मैव रिपुरात्मनः'

अर्थात मन ही अपना मित्र है, तथा मन ही अपना शत्रु है। जिसका मन अपने वश में है वह उसका मित्र है तथा जिसका मन वश में नहीं है वह उसका शत्रु है।

योग साधनों के द्वारा इस चंचल मन को धीरे-धीरे वश में किया जाता है। मानसिक विकास के साथ-साथ बौद्धिक उन्नति भी संयम के द्वारा ही सम्भव है। यम-नियमों का पालन एवं मैत्री करुणा इत्यादि भावनाओं के द्वारा मानसिक शक्ति बढ़ती है। पूर्ण मानसिक बल के प्राप्त होने पर बौद्धिक ज्ञान का उदय होता है। बुद्धि के आठ भाव (धर्म) हैं। धर्म अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य तथा अनैश्वर्य इन में से ज्ञान को छोड़कर शेष सातों भावों से बुद्धि अपने आप ही स्वयं को बाँधती है तथा ज्ञान से अपने को मुक्त करती है।

ऐश्वर्य भाव का पूर्ण विकास होने पर योगी को अणिमादि अष्ट सिद्धियां स्वतः ही प्राप्त हो जाती हैं। लेकिन युक्त होकर योगी इन ऐश्वर्यों को आत्मतत्व न मानकर विवेक ख्याति की ओर उन्मुख होता चला जाता है। ऐश्वर्य में फँस जाने पर योगी आत्मतत्व को न पाकर प्रकृतिलीन अवस्था को प्राप्त होता है। विवेक ख्याति के उत्पन्न होने पर ही प्रकृति और पुरुष का अलग-अलग बोध होता है। हृदय ग्रन्थि व कर्माशय ग्रन्थि का भेदन इसी अवस्था में होता है, 'भिद्यते हृदय ग्रन्थि छिद्यन्ते सर्व संशयाः' की उक्ति उस अवस्था में चरितार्थ होती है। विवेक ख्याति उत्पन्न होने पर पर वैराग्य के द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है जिस में द्रष्टा (आत्मा) अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। तभी कैवल्य मोक्ष प्राप्त होता है जो कि छः प्रकार की मुक्तियों में सर्वोत्कृष्ट मुक्ति है। निःसन्देह विशुद्ध मोक्ष के लिए योग को छोड़कर कोई दूसरा सुगम पथ नहीं है।

मैं अशान्त हूँ

❀ श्री बी. पी. व्यास, बीना

स्थान ब्रह्म लोक—

श्री ब्रह्माजी सम्पूर्ण जीवों की रुचिर रचना करके अपने स्वाध्याय मन्दिर में बैठे हैं। चारों ओर के वायु मण्डल में वेद मन्त्रों की मधुर लहरी अभी तक तैरती हुई सी प्रतीत होती है। दिशायें शान्त हैं। शीतल-मन्द-सुगन्धि पवन बह रहा है। आकाश में ऊषा देवी अरुण वर्ण की साड़ी लपेटे भू-मण्डल पर उतर रही है। चराचर सृष्टि में नव जागरण के लक्षण स्पष्ट दृष्टि गोचर हो रहे हैं। तरु-शाखाओं पर रहने वाले पक्षी फुदक-फुदक कर कलरव करते हुए अपने हृदय का हर्ष व्यक्त कर रहे हैं। हरित कुञ्जों में अलि दल मधुर गुंजार करते हुए मानो विधाता का गुणगान करते हैं। बीच-बीच में किसी आम्र-तरु की डाल पर बैठी कोयल कूक उठती है। भाव यह है कि समस्त वातावरण ही अति मनोरम प्रशान्त और शान्त है।

श्री ब्रह्माजी के सम्मुख चारों लोकपाल अपने-अपने उचित आसनों पर समासीन हैं।

(पिछले पृष्ठ का शेष)

अभ्युदय सिद्धि (लौकिक उन्नति) के लिए भी योग एकमात्र साधन है। यम-नियमों में से किसी एक को व सम्पूर्ण को आधार बनाकर अनेक धर्म व सम्प्रदाय बन गये। जैन धर्म में यम—पाँच महाव्रतों के नाम से जाना जाता है। यह महाव्रत जैन धर्म की आधार शिला है। बौद्ध धर्म में अहिंसा को परम धर्म माना गया है। लौकिक सुख व उन्नति के लिए यम-नियमों का पालन अत्यावश्यक है। इनके पालन से प्रत्येक परिवार, समाज एवं राष्ट्र सुख व शान्ति से रह सकता है। द्वेष भाव को छोड़ इन सनातन मानव धर्म को अपनाकर प्रत्येक मनुष्य विश्व बन्धुत्व के भाव को लेकर हिंसा व भय के वातावरण से निश्चिन्त सुखी हो सकता है। आर्य भारत में इन यम-नियमों का पालन समस्त का प्रत्येक धर्म कराता रहा है इसीलिये वे लोग आजकल की अपेक्षा अधिक सुखी थे। इस प्रकार योग अभ्युदय एवं निःश्रेयस सिद्धि का एकमात्र साधन है।

◆

पूर्व की ओर इन्द्र है, पश्चिम में वरुण है, दक्षिण में यमदेव है और उत्तर दिशा में धनाधीश कुबेर है।

ब्रह्मा—ऐ मघवन्! तुम्हारी पूर्व दिशा कैसी है? उसके नियोजन में किसी प्रकार की त्रुटि तो नहीं रह गई?

इन्द्र—पूर्व दिशा के अधिपति अग्निदेव हैं अग्नि का अर्थ ही आगे बढ़ाने वाली प्रगतिशील अग्नि:—जो प्राणियों के जीवन को विकसित करने में पूर्ण सहायक होती है। काल चक्र को घुमाता हुआ भगवान भास्कर अपनी मर्यादा में रहता हुआ सारे विश्व का बड़ी सुन्दरता से परिपालन करता है। फिर आपने इसको ऐसा गम्भीर शान्त और तेज पुञ्ज का गोला बनाया है जो २४ घण्टे तपता ही रहता है। एक क्षण भी उसने जीवन में विश्राम नहीं लिया। "प्रातःसूर्यस्य वेधार्थमेव उद्भवते चरत"। अतएव ब्राह्मण—ऐ मानव! सूर्य के अतुल परिश्रम को भी देख जो एक क्षण के लिये भी सुस्ताना नहीं जानता। यही अपने प्रकाश से चन्द्र और महान मण्डल को, विद्युत और अग्नि को देदीप्यमान करता रहता है।

सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥

वेद

सूर्य ही स्थावर और जंगम जगत का आत्मा है यदि यह नहीं तो सम्पूर्ण विश्व तिमिरमय है।

ब्रह्मा—ऐ इन्द्र तुम्हारा स्वर्ग क्या कहता है? इन्द्र—सुख ही सुख है स्वर्ग लोक में। हे महादेव दुःख, चिन्ता क्लेश का तो नाम भी यहाँ कोई नहीं जानता, देवगण अति प्रसन्न हैं। देवलोक में भी सम्पूर्ण आमोद-प्रमोदों की छटा छाई रहती है।

ब्रह्मा—ऐ इन्द्र देव! इतना अपार सुख होते हुए भी सन्त समाज तुम्हारे स्वर्ग लोक की ओर ताकता तक नहीं ऐसा क्यों?

देखो सन्तों की वाणी क्या कहती है—

राम बुलावा भेजिया,
दिया कबीरा रोय।
जो सुख साधु संग में,
सो बैकुण्ठ न होय॥
(कबीर)

अर्थात् भगवान ने जब सन्तों से कहा कि और बैकुण्ठ धाम में निवास करो—तो सन्तों ने उत्तर दिया कि पृथ्वी लोक में संत महापुरुषों की मधुमय संगति का जो सौभाग्य मिल सकता है वह सुख स्वर्ग में तो क्या बैकुण्ठ में नहीं है।

इन्द्र—यह तो सच है महादेव! साधु महात्माओं के सत्संग भरे उपदेश हमारे लोक में सुनने को नहीं मिलते—तभी हमें मोक्ष पद पाने का अधिकार नहीं है।

ब्रह्मा—

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं
दुःखमेकान्ततो वा।

नीचैर्गच्छत्युपरि च
दशाचक्रनेमिक्रमेण ॥

हे देवेश्वर ! कभी किसी को सम्पूर्ण सुख नहीं मिलता नहीं कभी किसी को सम्पूर्ण दुःख ही मिलता है । सुख दुःख तो समय के चक्र में लगे हुए अरों के समान नीचे ऊपर आते जाते रहते हैं ।

इसलिए सकाम कर्म करके जो तुमने स्वर्ग की प्राप्ति करली है उन कर्मों का फल आनन्दपूर्वक भोगलो—यह भी "सावधान" रहना के साथ इन भोगों को भोगने में आसक्ति न हो जाय—फिर जब मनुष्य जन्म पाओगे—वहाँ आवश्यकता तुम्हें श्री सद्गुरुदेव जी की प्राप्ति होगी—उनसे नाम दीक्षा लोगे और उस नाम मन्त्र की सच्चे हृदय से जप कमाई करोगे तब तुम्हारे कर्म निष्काम होने लगेंगे और फिर उनके प्रताप से स्वर्ग से भी ऊपर के लोकों में चले जाओगे ।

इन्द्र—आप ही हे विधिदेव ! सृष्टि कर्ता हैं—हम देवों को सन्मति प्रदान करिये—हम भी साधना और तपस्या के द्वारा राग-द्वेष और ईर्ष्या का परिहार करके भूलोक पर मानव देह में जन्म लें, और सन्त—सद्गुरुओं की सेवा सुश्रूषा का सुन्दर लाभ प्राप्त करते हुये विमुक्त हो जावें ।

ब्रह्मा—यह भी समय पर ही आवेगा—धैर्य मन में रखो—हे वरुणदेव ! कहिये आपका शासन चक्र कैसे चलता है ?

वरुण—आपकी कृपा हो गई है अपने वरुण लोक पर आप पधारे भी । मुझे आपने दण्ड पाश दे रखा है—उसके प्रताप से कोई भी जीव कुकर्म पथ पर पग नहीं रख सकता । यदि कोई दुष्कृत्य कर भी लेता है, तो मेरा यह न्यायदण्ड उस पर ऐसा चलता है कि वह भविष्य के लिये सतर्क हो जाता है ।

ब्रह्मा—दण्ड के साथ क्षमा और न्याय भी चलना चाहिये । '[illegible] भूषणं [illegible]' क्योंकि जो अधिकारी हों उनमें क्षमा का भाव भरपूर होना चाहिये । सत्य-असत्य का धर्म-अधर्म का निर्णय करके पीछे दण्ड देने का विधान है । दण्ड नीति में अन्याय और अत्याचार न हो ।

वरुण—प्रभु ! मेरे प्रशासन चक्र में ऐसा ही होता है । हर एक जीव अपने ही किये हुए कर्म का उचित फल प्राप्त करता है ।

नीतिकारों का विधान

यस्माच्च येन च यथा
च यदा च यच्च ।
यावच्च यत्र च
शुभाशुभ मात्मकर्म ॥
तस्माच्च तेन च तथा
च तदा च तच्च ।
तावच्च तत्र च
विधातृ वशादुपैति ॥

अर्थ—जो कोई भी मनुष्य जिस कारण से शुभ या अशुभ कर्म जिसके सहारे पर जैसे-जैसे और जब जहाँ भी जिस परिमाण में करता है वह उस कारण से, उसी द्वारा, वैसे-वैसे और तब वहाँ ही उस मात्रा में विधाता के नियम के अनुसार फल पा लेता है। इसी दण्ड-प्रणाली का अनुसरण हमारी शासन पद्धति में किया जाता है।

ब्रह्माजी—अति सुन्दर धर्मदेव! न्याय-प्रिय प्रशासक के यही लक्षण होते हैं।

यमाचार्य की ओर मुख करके

हे यमाचार्य जी! आप का दक्षिण दिशा का शासन कैसी भाँति विधि से कार्य करता है?

यमदेव—आपही के अनुग्रह से यमलोक के समस्त कार्यकर्त्ता अपनी अपनी नियत सेवा में निरत हैं। कोई भी प्राणी कहीं पर चाहे चौरासीलाख योनियों में से किसी योनि का हो उचित दण्ड से बच नहीं सकता। तभी सन्त-जन जीवों को सदा चेतावनी देते हैं।

काल फिरत है माथपै, चेतत क्यों न अजान।
सुन्दर काया कोट में, साँस रह्यो सुलतान॥
काल सदा आकार को, जामे सकल उपाधि।
निराकार निर्दोष है, 'सुन्दर' तहाँ न व्याधि॥
(सन्त सुन्दरदास जी)

जीवों के पुण्य और पाप के अनुसार स्वर्ग और नरक की व्यवस्था करदी गई है। कर्म के फल को भोगे बिना कोई भी जीव बच नहीं सकता। मैंने प्रत्येक कर्म के फल को आदेश दे रखा है कि तू कर्म करने वाले के पास ऐसे ही सपाटे से पहुँच जाया कर जैसे बछड़ा हजारों गौओं में अपनी माँ को ही ढूंढ लेता है? उसके पीछे पीछे चल पड़ता है। जैसे कि—

यथा धेनु सहस्रेषु
वत्सो विन्दति मातरम्।
तथा कर्मफलं भूप
कर्त्तारं मनुगच्छति॥
(शुक्र नीति)

ब्रह्मा—कितना उत्तम है प्रशासन आपकी दक्षिण दिशा का!

श्री कुबेर जी की ओर देखकर

हे! धनेश्वर—आप उत्तर दिशा के अधिपति हैं—कैसा शासन सुख है आपका?

कुबेर—सर्वथा न्यायानुकूल है प्रभो! किसी भी देवता को मनुष्य या असुर को आर्थिक कष्ट नहीं होता। यदि वह लोभ या तृष्णा वश अधिक की कामना करता है तो यह उसका अपना ही दोष है। मेरी ओर से हर एक जीव को प्रारब्ध के अनुसार जो कुछ आपके संविधान में लिखा होता है वह उसे पहुँच जाता है।

यह सारा ब्रह्माण्ड और इसके समस्त जीवजन्तु मुझे प्राणों के समान प्रिय हैं। पशु पक्षी कीट पतंग, रेंगने वाले जीव, जल जलचर

किसी को भी अपनी जीवन धारा के चलाने में मेरी ओर से कोई रुकावट नहीं होती। सभी अपनी अपनी करनी के अनुरूप ही प्रारब्ध भोग रहे हैं।

ब्रह्मा—मैं आप सभी लोकपालों की शासन व्यवस्था से अति संतुष्ट हूँ। आपने ही चौदह भुवनों का परिपालन करना है। मैं नहीं चाहता कि मेरे इस बनाये हुये विश्व में कोई ऐसी अप्रिय घटना घटित हो जाय जिससे भगवान विष्णु को फिर कोई नया अवतार धारण करना पड़े—अब आप सुख पूर्वक अपने अपने धाम को जा सकते हैं।

सब लोकपालों का प्रस्थान

ब्रह्माजी अपने विश्राम-भवन में विराजमान हैं। उनके जलपान के लिये सामग्री जुटाई जा रही है—इतने में द्वारपाल प्रवेश करता है।

द्वारपाल (हड़बड़ाकर) मेरे मालिक! बड़ा ही गजब हो गया। बाहर एक ऐसा व्यक्ति आया है जिसके रोम-रोम में घबराहट भरी है— बड़ा ही नटखट मालूम होता है वह। एक पल भी उससे शांत नहीं बैठा जाता। उसके मुँह से बस एक ही ध्वनि निकलती है "मैं अशान्त हूँ" मुझे कहीं भी शान्ति नहीं मिल रही है। चारों लोकपालों के द्वार खटखटा आया हूँ—किंतु उन्होंने मेरी अशान्ति मिटानेका कोई उपाय न किया। "मैं अशान्त" कब तक रहूँगा। दीन वत्सल स्वामिन्! उसकी ऐसी भीषण आकृति को देखकर मैं घबरा गया हूँ। मुझे भय हो गया है कि कहीं वह चपलमती मनुष्य मुझ पर ही न झपट पड़े।

ब्रह्माजी—उसका नाम धाम तो पूछ लेते?

प्रतिहारी—मैंने नाम उसका पूछा था वह अपने आपको "मनुदेव" बतलाता है। कहता है कि मैं मनु की सन्तान हूँ—और जब मैंने उसका धाम पूछा—तो वह बोला कि मैं सम्पूर्ण लोकों में रहा करता हूँ। कोई भी प्राणधारी ऐसा न होगा जिसकी काया के दुर्ग में मेरा निवास न हो। अभी तक आप उसके विषय में कैसी आज्ञा दें?

ब्रह्माजी—उसे आदर पूर्वक अन्दर ले आओ। प्रतिहारी। (मनुदेव का प्रवेश।)

मनुदेव प्रजापति जी को सादर दण्डवत् अभिवादन करता और आज्ञा मिलने पर उचित स्थान पर स्थित हो जाता है।

ब्रह्मा—कितने चपल प्रतीत होते हो आप मनुदेव! तुम्हारा नाम मनु है न? तुम्हें चौदह ब्रह्माण्डों में मन नाम से याद किया जाता है। कहो आज इस द्वार पर कैसे आना हुआ? हमसे तुम्हारा क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है? स्पष्ट—कहो—

मनुदेव—विश्व विधाता हैं आप। दस सहस्र वर्षों तक उग्र तपस्या करके आपने इस सकल प्रपञ्च की सुन्दर रचना की है। परन्तु

एक प्रश्न पूछने की मेरी जिज्ञासा है, उत्तर चाहता हूँ।

पितामह ब्रह्मा—हाँ-हाँ अवश्य पूछो मधुदेव! मनु—आपने इतनी मनोमोहिनी माया का सृजन करके चराचर विश्व को मस्त सुखी कर दिया है, परन्तु मेरे लिये आपने कुछ नहीं सोचा।

ब्रह्मा—यह क्योंकर?

मधुदेव—मैंने ऐसे कौन से कुकर्म किये थे और किस जन्म में किये थे जो मुझको आपने [illegible] प्रदान कर दी। मेरे नस-नस में इतना गहरा [illegible] भरा हुआ है जो एक भी पल के लिये भी शान्त नहीं बैठ सकता। वो पल पल में उछल कूद मचाये रहता है—चाहे कोई काम कर रहा हूँ अथवा सोया हूँ—मुझे चुप होकर बैठना लिखा ही नहीं है। चौबीसों घण्टे [illegible] रहता हूँ। उसका परिणाम यह होता है कि जब कोई मुझे [illegible] रहता है। [illegible] खुशी पाते हैं, कि सब मेरा [illegible] है—क्या ठीक नहीं [illegible]

हे विश्व परिपालक प्रभु! सम्पूर्ण [illegible], मालियाँ, सुनार और [illegible] का [illegible] क्या आपने मुझे ही बनाना था? मैं जहाँ भी जाता हूँ—वहाँ ही कोई न कोई आक्रमण कर देता है। बस फिर क्या होता है? [illegible] शक्ति हो जाती है, रूप धारण कर जाता है—सब हमारे दोनों को बिगाड़ देता मेरे बायें हाथ जैसा [illegible] बस गया है। इन्हीं अपनी स्वाभाविक परेशानियों से दुखी होकर आज आपके चरण कमलों में यही निवेदन करने आया हूँ कि "मैं अशान्त" हूँ, इसका कोई उपाय बतलाइये।

ब्रह्माजी—हे मधुदेव [illegible] जब कभी समाचित्त होकर इस त्रिभुवन की रचना पर गम्भीर विचार करता हूँ तो मन ही मन बड़ा प्रसन्न होता हूँ। तुम्हारी अद्भुत करतूतों को देखकर मैं [illegible] हूँ और अति चकित हो जाता हूँ कि कैसे मैंने किस मुहूर्त में और किस मिट्टी से तेरा निर्माण कर दिया था। यह सोचकर मेरा आनन्द हृदय पुलकित हो जाता है और अपने रचना-कौशल पर गर्वित हो उठता हूँ कि मैंने तुम्हें बना कर समस्त जीव धारियों का बड़ा कल्याण किया है। तुम [illegible] यदि [illegible] छोड़ दो तो सारे [illegible] का [illegible] ही [illegible] हो जाता। तुम्हारी [illegible] ही इस अखिल ब्रह्माण्ड को [illegible] रही है। जितनी भी दौड़-धूप और जितना भी कार्य व्यवहार तीनों लोकों में हो रहा है उस सब का श्रेय तुम्हें ही [illegible] है। जिस [illegible] को चलाने से एक [illegible] की सारी छोटी बड़ी मशीनें कार्य करने लगती हैं। उस कारखाने के द्वारा सारी [illegible] को सुख और आराम मिल रहा हो तो क्या। उस

अनेक पुर्जों को यह कहना चाहिए कि—"मैं अशान्त हूँ"। मैं पड़ा पड़ा मौन धारण किये हुए जड़ सा पड़ा था—मुझे मालूम हो कर हँसना और मजा किया यदि वह ऐसा कहता तो वह मूर्ख ही नहीं महामूर्ख है। उसको या अनिवार्य पहचानना चाहिए, यह जानकर कि मेरी इच्छा में वे तमाम पुर्जों जो कारखाने के सारी मरम्मत करके ये निठल्ले और बेकार पड़े हुए ये अब कोक दशा में बदल गये हैं।

इसी प्रकार हे मनुष्य! तुम्हें भी उसी आत्मा का सहारा ले कर अशान्त होने की बजाय अपना सम्पूर्ण समर्पण करना चाहिये कि मेरी चेतनता तो अखिल संसार का नियंत्रण कर रही है, और तुम मुझे यह सुनाने आये हो कि "मैं अशान्त हूँ"।

मनुदेव—ब्रह्मन्! मुझे आपकी चिकनी-चुपड़ी बातें पसन्द नहीं आती हैं, मैं भी अपने ढंग से प्यार करता हूँ। अशान्ति, चंचलता छटपटाहट, चिन्ता, कामना, अनिश्चितता क्या मेरी जिन्दगी इन्हीं में विनष्ट हो जायेगी? अन्तरात्मा नित्य शान्ति चाहती है—स्थायी आनन्द के लिये यह अत्यन्त लालायित है। आप जब सृष्टिकर्ता ब्रह्मा हो तो अपने इस ब्रह्माण्ड में परम शान्ति का कोई भी प्रकोष्ठ (कमरा) नहीं बनाओगे क्या? और यूँ सारा अशान्त होकर जन्ममरण की चक्की में ही पिसते रहेंगे क्या? भगवान् विष्णु भी इस अनित्य, अस्थिर और विनश्वर सृष्टि का ही भरण पोषण करते हैं?

योगीश्वर महेश जो यह नाम रखा कर जिस ब्रह्माण्ड का संहार कर देते हैं वहाँ शान्ति और सुख हीन संसार हो है। बड़ा आश्चर्य है इतना विराट् आपका विश्व और सब अशान्त।

ब्रह्मा—हे मनु! तू सत्य कहता है। हम तीनों देव भी तेरी भांति नितान्त अशान्त हैं हमें भी सृष्टि का काल के भय की यातनायें सहनी पड़ती हैं। ये लोकपाल जो इन्द्र वरुण-यम और कुबेर काल की परिधि से बाहर नहीं हैं। आवागमन की तिकठी हर एक के सिर पर मंडरा रही है।

मनुदेव—चारों वेदों के विद्वान् तो आप हो हैं। तो आप मुझे और बताइये कहाँ परम शान्ति के झरने बहते हों!

ब्रह्मा—मनुदेव! पूर्ण शान्ति तुम्हें यदि प्राप्त करनी है तो जो सन्त-सत्पुरुषों की चरण-शरण में है वे ही शाश्वत शान्ति के भण्डार हैं। वे परम और चरम सुख के सागर हैं। मनुदेव—

ज्ञान समागम प्रेम सुख,
दया भक्ति विश्वास।
गुरु सेवा ते पाइये,
सद्गुरु चरन निवास॥

सन्त सद्गुरु ही नाम की वह संजीवनी

बड़ी दे देते हैं जिससे पूर्ण शान्ति आठों प्रहर ही बनी रहती है। तू अपनी अशान्ति के कारण को पहिले जान ले। गुरुदेव ! समस्त दुखों और क्लेशों की जननी यह प्रपंच की माया है। तू जब तक इसके लोभ-लालच में अटका रहेगा तब तक तेरी अशान्ति न मिटेगी।

इस छलमयी माया से मुंह मोड़कर संत सद्गुरुदेवजी के चरण कमलों को पकड़ ले। अचल शान्ति के दाता केवल वही हैं। वे परमदयालु हैं—उनके द्वार पर कोई इन भावों में पुकार तो करे—

कोई तेरा कछु नहीं,
मेरा होय अकाज।
बिरद तुम्हारे नाम को,
सरण परे की लाज।
मुझ में औगुन तुझ गुन,
तुझ गुन औगुन मुज्झ॥
जो मैं बिसरे तुझ को,
तू मत बिसरे मुझ।
साहिब तुम ही दयाल हो,
तुम लगि मेरी दौर।
जैसे काग जहाज को,
सूझे और न ठौर।

इतनी विनय करने पर परम कृपालु चित्त संत सद्गुरु तुझे सत्य नाम का उपदेश देंगे—तू उस नाम की मणि को अपने हृदय के मन्दिर में सुरक्षित रखना—श्वास-प्रश्वास में उस नामजप के तार को जोड़े रहना—फिर तू देखेगा कि तेरे अन्दर कितना उज्ज्वल प्रकाश हो जायेगा।

श्री सद्गुरुदेव जी से जो नाम प्राप्त हो जाय उसी का अन्तर्मुख होकर जाप करना है—इससे तेरा उनके चरणों में घना प्रेम हो जायेगा और अन्य साधनों, जप तप, व्रत तीर्थ यात्रा आदि की तुझे कोई आवश्यकता नहीं रहेगी। उनके श्री चरण कमलों के प्रेम में ही सभी सुख मिल जायेंगे। तेरी सारी अशान्ति मिट जायेगी।

शरीर सम्पत्ति

मानव जीवन का उद्देश्य अपने को सुखमय तथा शक्ति सम्पन्न बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब कि हमारे शरीर स्वस्थ, बलवान और नीरोग हों। बिना शरीर के स्वस्थ, बलवान तथा नीरोग बनाए हम न तो सांसारिक सुखों को ही प्राप्त कर सकते हैं और न ही आध्यात्मिक शान्ति तथा आनन्द को उपलब्ध कर सकते हैं। शरीर ही कर्तव्य परायण बनने का परम साधन है। सभी विद्वानों ने में शरीर की महत्ता का वर्णन किया है।

गुरु कुम्हार–बाहर वाहै चोट

❀ श्री डा० विजयसिंह

महाराज छत्रपति शिवाजी अनन्य गुरु भक्त थे। समर्थ स्वामी रामदास जी इन्हें अत्यन्त आत्मीय जन समझते थे। गुरु आज्ञा पालन में सिंहनी का दूध समर्पित करके इन्होंने अपने अद्भुत गुरुप्रेम, शौर्य एवं उत्साह का प्रदर्शन किया। एकबार एक किले का निर्माण कराते समय इनके भी अन्तःकरण में लघु अहंकार का बीज अंकुरित हो उठा। असंख्य कुशलजनों को कार्यरत देख शिवाजी ने सोचा- 'अहा! मेरे आश्रित इतने जनों का इस कार्य से भरण-पोषण हो रहा है।' अन्तर्यामी श्रीगुरु देव ने तनिक भी देरी न की। शिष्य की बढ़ती अहंकार की जड़ समेत उखाड़ने तत्काल वहाँ पहुँच गये। विशाल किले को श्रीगुरुदेव को दिखलाते हुए शिवाजी को अपार हर्ष हो रहा था। तभी स्वामी समर्थ रामदास जी की मधुर वाणी सुनायी पड़ी—शिवा! जरा एक बड़ा हथौड़ा तो लाना। दौड़ कर स्वयं शिवाजी पत्थर तोड़ने वाला एक घन उठा लाये। गुरुदेव की अगली आज्ञा सुनने हेतु तत्पर थे। गुरुदेव ने कहा– शिवा! जरा सम्भाल कर इस बड़े पत्थर को मध्य से दो टुकड़े तो कर दे। एकाग्रता, और सारी सावधानी से शिवाजी ने पत्थर के बीचों-बीच पड़ी धारियों की लकीर पर घन से प्रहार किया। कैसा कौतुक, कैसी विलक्षणता! न कभी देखी गयी और न कभी सुनी गयी। पत्थर अन्दर से खोखला, कटोरीनुमा एक छोटा सा गर्त उसमें जल, जल में एक छोटा सा मेढ़क। तभी शिवाजी की अहम्मन्यता भंग होती है। व्यंग्यात्मक अट्टहास गुरुदेव का सुनाई पड़ा—क्यों शिवा! तू तो बड़ा परोपकारी है रे! पत्थर के अन्दर इस तुच्छ जीव के रक्षार्थ, इसके भरण-पोषण हेतु जल की व्यवस्था कर रखी है?

शिवाजी ग्लानि से गड़ गये छटपटा कर श्री गुरु-चरणों में गिर पड़े। प्रभो! अहंकार का नशा छा गया था। मैं मूर्छित हो गया था। प्रभो! आपकी अहैतुकी कृपा से मेरे कर्तृत्व भाव का विकराल अहंकार चला गया। प्रभो! वह ईश्वर ही चराचर का स्वामी है। आपने मुझ मूढ़ की आँखें खोल दीं।

अज्ञान तिमिरान्धस्य,
ज्ञानाञ्जन शलाकया।
चक्षुर् उन्मीलितम् येन
तस्मै श्री गुरवे नमः॥

वासना-क्षय

✽ श्री मगनलाल हरिभाई

हम जानते हैं कि संसार में चित्त है, तो सब कुछ है और चित्त नहीं है, तो कुछ भी नहीं है। संसार ही है, ऐसा कहा जा सकता है। चित्त रहित व्यक्ति का संसार-व्यवहार ही नहीं होता, पर संसार अवश्य क्षय हो जाता है। जब तक हमारे मन में इच्छायें जागृत होती रहती हैं, तब तक संसार बना रहता है इसलिए शास्त्रों में बारम्बार चित्त एवं मन के निग्रहपर जोर दिया गया है। मनका निग्रह करने के लिए शास्त्रों में अनेक प्रकार दृष्टान्त, तर्क, वर्णन-श्रवण आदि दिये गये हैं तथा नाना भाँति सुख-दुःख को समझाया गया है। कितने ही ऋषि, मुनिगण एवं तपस्वी मन का निग्रह करते हुए संसार से तर गये।

चित्त का धर्म क्या है? स्वाभाविक रूप से जो तत्व में निहित है, जैसे किया, मैं करता हूँ, सुखी दुःखी हूँ, आदि जो भी भाव हैं, वे सब मन के स्वाभाविक धर्म हैं। मन का मूल यह ज्ञान (वास्तव में अज्ञान) ही सबके लिये दुःख-दायक और बन्धन स्वरूप है। इसकी समाप्ति ही जीवनमुक्ति है।

मैं, मेरा, मुझे' आदि जो अहम्-भाव मन में होता है, उसके अनुरूप ही क्रियायें होती हैं और उन्हीं में से अनेक प्रकार की वासनाओं का प्रादुर्भाव होता है। जिस प्रकार पुत्रेष्टि यज्ञ द्वारा पुत्र की, व्यापार करने से धन की और ज्योतिष्टोम यज्ञ करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अपने प्रयत्नों से ही तथा वेदान्त श्रवण से, सत्सङ्ग से, सद्विचारों से, ध्यान से और अपरोक्षज्ञान होने से, प्रज्ञा समाधि से हम को आत्मज्ञान प्राप्त होता है। यही जीवनमुक्ति है और मन की समस्त वासनाओं का जब क्षय होता है, तब ही यह जीवनमुक्ति-अवस्था प्राप्त होती है।

हमारे प्रयत्न दो प्रकार के होते हैं, एक शास्त्र सम्मत एवं अन्य शास्त्र-विरुद्ध। शास्त्र सम्मत पुरुषार्थ भगवद् प्राप्ति में उत्तम फल-दान देते हैं, परन्तु शास्त्र-विरुद्ध पुरुषार्थ अनर्थ कारक होते हैं। शास्त्र-सम्मत पुरुषार्थ धीरे-धीरे परम पद तक ले जाते हैं। परन्तु अशुभ वासनाओं के प्रेरित कर्म पतन की ओर ले जाते हैं।

मन को शुभ वासनाओं की ओर प्रवृत्त करने के लिए और अशुभ वासनाओं से दूर

छूटने के लिये प्रयत्नशील होना आवश्यक है। पूर्व जन्म के, प्रबल संस्कार अशुभ वासनाओं को जाग्रत करते हैं, परन्तु इससे निराश होने की आवश्यकता नहीं है। पूर्व जन्म के प्रबल संस्कार भी प्रयत्न से क्षीण हो सकते हैं और प्रभावहीन हो जाते हैं।

मन का स्वभाव है कि एक बार जब वह अशुभ तत्त्व से दूर हटा तो वह अवश्य शुभ तत्त्व की ओर आकर्षित होगा। वहाँ मन शुभ तत्त्व से दूर होने पर अशुभ तत्त्व की ओर झुकता है। इसीलिए येन-केन प्रकारेण हम अपने मन को अशुभ वासनाओं से हटाकर शुभ वासनाओं की ओर मोड़ दें। इस प्रकार का अभ्यास करना पड़ता है और अभ्यास में परिपक्व होने के पश्चात् वासनाओं का सम्पूर्ण नाश होता है। जब वासनाओं का नाश हो जाय, मन में बुरी वासनाएँ ही न हों, तब समझ लेना चाहिये कि हमारा अभ्यास परिपक्व हो गया। अशुभ वासनाओं के त्यागने के अभ्यास के आरम्भ होते ही शुभ वासना की अभिवृद्धि होगी और ज्ञान मार्ग की ओर प्रयाण किया जा सकेगा।

जीवन मुक्ति के लिये वासनाक्षय, विज्ञान एवं मनोनाश इन तीनों का अभ्यास एक साथ और ज्यादा समय तक करना पड़ता है, ऐसा शास्त्रों में बतलाया है। एक साथ इन तीनों का अभ्यास न हो वहाँ तक जीवन मुक्ति असंभावित है, क्योंकि ये तीनों एक ही डोर से बंधे हैं। वासनाएँ दूर कर मन को जीवित रखा जाय तो नई नई वासनाएँ उत्पन्न होंगी ही। सत्-असत् के विवेकरूपी विज्ञान से यदि हम विचार न करें तो वासना नाश सम्भव नहीं है। विज्ञान से अनुकूलित वासनाक्षय होने पर मनोनाश सरलता से हो सकता है। इस प्रकार यदि तीनों का अभ्यास एक साथ किया जाय तो वह फलदायी होगा।

वासनायुक्त मन को ज्ञानियों ने 'बद्ध' कहा है और वासनामुक्त मन को 'मुक्त' कहा है। विचार पूर्वक अभ्यास करने से वासनाओं का नाश होता है। वासना नाश का अर्थ चित्त की निर्मलता है। जिस प्रकार दीप में तेल समाप्त हो जाने पर दीपक अपने-आप बुझ जाता है, उसी प्रकार वासनाओं का क्षय होने पर वे अपने आप मर जाती हैं। कोई भी इच्छा जब मन में नहीं रहती, तब चित्त अपने आप परमब्रह्म परमात्मा में लीन रहता है।

विषय वासना जब मिटे,
तब मन स्थिर होय।
कहे कबीर विचार के,
फिर ज्योति में ज्योति मिलोय॥

यह उत्तम प्रकार की समाधि है। इस समाधि के लिये उपासनादिक की आवश्यकता नहीं है, तत्क्षण किसी को भी ऐसी समाधि प्राप्त नहीं होती है। अनेक जन्मों के अभ्यास

के पश्चात् यह अवस्था प्राप्त होती है। अतः धीरे-धीरे दृढ़ता पूर्वक इसका अभ्यास करना चाहिए। अभ्यास करने में किसी प्रकार की लापरवाही नहीं करनी चाहिये।

परिमित पदार्थों का दीर्घ काल तक एवं बारम्बार चिन्तन करने से मन में जो चञ्चलता उत्पन्न होती है, वही जन्म-मृत्यु का मुख्य कारण है। इस चंचलता में से वासनाओं का प्रादुर्भाव होता है, क्योंकि चंचलता से अविवेक उत्पन्न होता है और उसमें से वासनाओं का उद्भव होता है।

मन दो प्रकार से निर्मित है, प्राण और वासना से। इन दो में से एक का नाश होने पर मन का नाश होता है। परन्तु प्राण का सम्पूर्ण नाश नहीं होता। इससे जितने समय तक प्राण का निरोध किया जाता है, उतने समय तक मनो नाश की दशा अनुभूत होती है, परन्तु उस निरोध के दूर होते ही मन की पूर्व स्थिति फिर से कायम हो जाती है। इस से प्राण निरोध की अपेक्षा वासनाक्षय का मार्ग अधिक उत्तम है। ज्यों ज्यों दृश्य पदार्थ में वैराग्य उत्पन्न होने लगे, त्यों त्यों उसमें से आसक्ति कम होने लगती है। दृश्य-प्रपंच हमें सुख दायक है, इसी भाव से राग उत्पन्न होता है। पर वास्तव में कोई भी दृश्य पदार्थ सुख दायक नहीं है। सुख तो अपने स्वरूप में ही है। जब दृश्य पदार्थोंमें से सुखानुभूति निकल जाती है तब वासनाक्षय की [illegible] आरम्भ होती है। पश्चात् मन क्रिया करता रहे फिर भी वह क्रिया अक्रिया के समान है। जब मन बार-बार अपने निजी स्वरूप में लीन होने लगता है तब अपने आप वासनाका नाश होजाता है।

× × × ×

इसके सब से पहले तो हम यह निश्चय कर लें कि सुख—'सच्चा सुख' स्वरूप स्थिति में ही है। जब इतनी दृढ़ता आ जाय, तब धीरे-धीरे प्रत्येक इच्छा की कसौटी इस आधार पर की जानी चाहिये और उसे व्यर्थ समझकर उस इच्छा का परित्याग करना चाहिये और तदनन्तर मन को अपने निजी स्वरूप में जोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये। आरम्भ में यह सम्भव न लगे इससे भगवद्भजन और भगवद् ध्यान में मन को जोड़ने का प्रयत्न करना चाहिये। भगवन्नाम के जप और उसके अभ्यास एवं दृश्य पदार्थों में सुख नहीं है, ऐसा वैराग्य, इन दोनों का चिरकाल तक अभ्यास करने पर ही मन स्वरूप में जुड़ा रहता है, अन्यथा नहीं। इससे एकाग्रचित्त से जप शुरू करना चाहिये। जब-जब शरीर या मन थक जाय, तब-तब अवकाश के समय में शास्त्रों का पठन और अभ्यास करना चाहिए, यह साधक के वैराग्य को दृढ़ करता है।

ऐसा करने के लिए जीवन को नियमित

बनाना पड़ता है। एकान्त स्थान में रहना पड़ता है। अनावश्यक पठन, वाणी-विलास और शरीर की अनावश्यक कोई भी क्रिया कलाप—इन सब का त्याग करना पड़ता है। ये हमेशा अपनी आध्यात्मिक प्रगति में बाधक रहेंगी। इस लिये इतना निश्चय करके जीवन में परिवर्तन कर मुक्ति के पथ पर अग्रसर हों।

भगवान् के नाम का जप करने वाले जप की संख्या पर नजर नहीं रखते हैं। आज कल मात्र संख्या पर ही नजर रखी जाती है। यह एक बड़ी भारी भूल है। संख्या तो सिर्फ नियमपूर्वक किया करने में मददगार है। जप करने वाले को हमेशा यह बात पर ध्यान रखना चाहिये कि मन जप के साथ है या नहीं। मन सहित किया गया जप ही सच्चा जप है। यही जप फलदायी है जो हमें मोक्ष की ओर ले जाता है।

व्यवहार हमेशा अनासक्ति सहित हो, इस का अभ्यास करते रहना चाहिये। जब अनासक्त व्यवहार किया जाता हो, संसार का चिन्तन छोड़ दिया जाय और हमेशा शरीर की नश्वरता का बोध बना रहे, तब वासना उत्पन्न ही नहीं होती। इस प्रकार जब वासना का त्याग होता है, तब चित्त शान्त हो जाता है। शान्त चित्त में अन्दर परम शान्ति देने वाला 'विवेक' जागता है। यही 'विवेक' सच्चे ज्ञान का प्रकाशक है। इस विवेक के बिना शुद्ध ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। ग्रन्थ कितना ही और कितने प्रकार का ज्ञान साधक संप्राप्त कर लिया हो, फिर भी जबतक उपर्युक्त निर्दिष्ट विवेक सम्पन्न ज्ञान उसको प्राप्त नहीं होता, तब तक चित्त को शान्त करने के उपाय में लगे ही रहना चाहिये। इसलिये गुरु एवं शास्त्र-सम्मत मार्ग अपनाना चाहिये।

जब तक शुद्ध ज्ञान परिपक्व नहीं होता, तब तक शास्त्र-सम्मत और गुरु प्रेरित क्रियायें अवश्य करनी चाहिये। शुद्ध ज्ञान परिपक्व होने से शुभ वासनाओं का त्याग करना चाहिये। अन्यथा मुक्ति निश्चित न होगी।

चित्त नाश दो प्रकार का है, एक सरूप, दूसरा अरूप। जीवनमुक्त का चित्त नाश सरूप होता है, परन्तु विदेह मुक्त का चित्त नाश अरूप होता है। जीवनमुक्त का चित्त रहता है, पर अचित्त-जैसा। विदेहमुक्त का चित्त नष्ट हो जाता है। जब मन चित्त नाश की स्थिति प्राप्त करता है, तब इसकी अनुसंधानात्मिका वृत्ति शान्त हो जाती है और मैत्री, करुणा, प्रसन्नता तथा उपेक्षा गुणों से युक्त होकर मन परम शान्ति प्राप्त करता है।

❀ ओज ❀

जीवात्मा के भीतर देह में ओज सर्व अवयवों के भीतर समाया हुआ है। यदि इस ओज का नाश हो जाय तो जीवों के शरीर नष्ट हो जाते हैं। जिस तरह वायु में विद्युत रहती है उसी तरह ओज के भीतर विद्युत है-दोष में इसी को पर ओजकी संज्ञा दी गई है

अवतारी महापुरुष

या

सत्ता की प्राप्ति

✿ श्री जगदीश नारायण उपाध्याय

ज्ञान का अभ्युदय

'योगेन योगो ज्ञातव्यः योगो योगात् प्रवर्तते'।

क्रम से आनुपूर्व्य के अनुसार हमारे पहले लेख के प्रश्न के आधार पर आलोक में आपने देखा कि 'प्रत्यर्हत विज्ञानमयता का प्रामाण्य' अंश पंतजलिक क्रिया से युक्त राज योग के इस वैज्ञानिक प्रणाली द्वारा, जीवन मुक्ति अभिलाषी साधक ज्ञान के अनुसार भौतिक जगत को देखते हुये, भावना के अनुसार आध्यात्मिक जगत को देखते हुये, किस प्रकार सरलता पूर्वक, पूर्व जन्मों के संस्कारवश 'अस्मिता' या 'अहं' के रूप में उत्पन्न विकार-जनित ज्ञान को अपने आराध्य को आत्मसमर्पण करके, सदा सहज ज्ञान में मग्न कर, अविकसित प्रकाश का कुछ अंशों में ज्ञान, भौतिक स्तर पर महाकाश से होकर, मानसिक स्तर पर चिदाकाश के भीतर अपने अन्तःकरण में किया।

इस परिणाम का सारा श्रेय योगशास्त्र में उल्लिखित ज्ञान के अंकुर धारण करने 'प्रत्यर्हत विज्ञानमयता का प्रामाण्य' अंश वैज्ञानिक उपाय, साधु संगत के साथ आन्तरिक सत्संग या स्वाध्याय, मन के संयम पर आधारित इस योग प्रणाली द्वारा सहज ज्ञान से युक्त निष्काम भाव से किये हुये साधना, तथा साधक के सीमित व्यक्तिगत चेतना या अहं के साथ, भौतिक, मानसिक स्तर पर चेतन पुरुष के रूप में अवतारी महापुरुष से स्थापित हो जाने या कुछ अंशों में भौतिक तथा मानसिक स्तर पर व्यक्तित्व का विकास होने के कारण है।

इस प्रकार की प्रणाली की, साधना के विषय में शास्त्रीय प्रमाण का जहाँ तक प्रश्न है योग वाशिष्ठ के उपशम प्रकरण में इस प्रणाली का वर्णन निम्न शब्दों द्वारा किया गया है।

अध्यात्म विद्याधिगमः
साधु संगम एव च।
वासना सम्परित्यागः
प्राण स्पन्द निरोधनम्॥
एतास्ता युक्तयः पुष्टाः
सन्ति चित्त जयेकिल॥
(यो०५।९२।३५ का पूर्वार्द्ध)

आगे चेतन पुरुष के प्रकाश का साक्षी

अंगों में क्रियात्मक ज्ञान, अपने सूक्ष्म अन्तःकरण का आध्यात्मिक स्तर पर विकास करना ही, साधक के लिये ज्ञातव्य ज्ञान का विषय है।

वर्तमान युग में संसार के प्रायः अधिकतर प्राणी दुःखी क्यों है? इसके दूर करने का उपाय क्या है? इस सन्दर्भ में यदि हम विचार करें या देखें तो इसका मूल कारण, पुनर्जन्मवाद पर आधारित राजयोग के इस सिद्धान्त को कि प्रत्येक जीवात्मा अमरत्व प्राप्त है, तथा सब प्राणियों के सूक्ष्म अन्तःकरण में उनकी भावना के अनुसार केवल गुरु के रूप में 'ईश्वर' 'अवतारी महापुरुष' या 'सद्गुरु' विद्यमान है, इसको सत्य न मानने, उसके प्रति यथार्थ मानवतावादी दृष्टिकोण से चिन्तन, एवं निष्काम भाव से कर्म या सेवा न होने, तथा खास करके देखा जाय तो 'अहं-भाव' या 'चेतना' को जीवित व व्यक्तिगत कर देने एवं भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्तर पर लोगों के व्यक्तित्व की विकास न होने के कारण है।

यदि हम यथार्थ मानवतावादी दृष्टिकोण से देखें या विचार करें तो इसी के चलते सारे संसार में पुरानी मान्यता—नैतिकता मूलक आदर्श (अध्यात्म, धर्म, राजनीति, साहित्य, वाणिज्य, कला, विज्ञान) को शिक्षा-सेवा साधना का स्तर, प्रभाव व मूल्य, गिरता चला जा रहा है। और न उसे न्यायोचित प्रोत्साहन मिल पा रहा है, और न हर क्षेत्र में उसका सही सही उपयोग हो पा रहा है। उसके स्थान पर नयी नास्तिक भौतिकता मूलक आदर्शों की शिक्षा, सेवा, साधना का मूल्य प्रभाव, व स्तर बढ़ता चला जा रहा है। समाज में इसी का बोलबाला है। और इसी का हर क्षेत्र में उपयोग हो रहा है। जिसके कारण सम्पूर्ण विश्व में हर स्तर पर हिंसा, तनाव, भय, निराशा व अशान्ति है तथा एक दूसरे के प्रति लोग सशंकित है।

भौतिकविज्ञान की तरह गुरुत्वाकर्षण के सिद्धान्तों के पूर्व पर चल, हमारे भारत वर्ष के योगाचार्यों द्वारा किये गये सिद्धयोग कर्म पर आधारित, राजयोग की इस प्रणाली के क्रियात्मक ज्ञान द्वारा बड़े आसानी से साधक मन की सूक्ष्म शक्तियों को अपने आधीन करके शुद्ध व शान्त अन्तःकरण अपने कर्मों व विचारों के समन्वय द्वारा, इन सारे दुःखों और कष्टों से छुटकारा पा सकता है। तथा अपने ही रूप में रहते हुये चाहे वह किसी वर्ग, जाति या धर्म का साधक हो अपनी भावना के अनुसार अपने व्यक्तित्व का विकास, भौतिक, मानसिक, आध्यात्मिक स्तर पर करके जीवन को सुखद बना सकता है।

जहाँ तक प्रश्न है? व्यावहारिक ज्ञान कराने व करने की बात या तो लोग दर्शन के अलावा अन्य दर्शन या मनोविज्ञान द्वारा

प्रायः यह असम्भव सा है। क्योंकि ये सब मनुष्य के आध्यात्मिक भाग या अचेतन जगत को ही लेकर संलग्न रहते हैं।

× × × ×

इससे लेख में पहले ही मैंने अब तक के सारी उपलब्धियों में से एक कारण साधु सद्गुरु के साथ आन्तरिक सत्संग को माना है। साधु सद्गुरु तथा आन्तरिक सत्संग की महिमा का गुणगान प्रायः सभी शास्त्रों तथा पूर्वाचार्यों ने एक मत से बताई है। आदि जगत गुरु शंकराचार्य ने इतना तक लिख दिया है कि "क्षण मिह सज्जन सङ्गति-रेका। भवति भवार्णव तरणे नौका।

साधुओं की एक क्षण की संगति भव-सागर पार होने के लिये नौका स्वरूप है। योग प्रणेता पातञ्जलि जी ने तो निम्न लिखित सूत्रों द्वारा इसे आत्मिक उत्थान का एक मात्र कारण ही मान लिया है।

वीतराग विषयं वा चित्तम्
॥यो० द० १-३७॥
स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः
॥यो० द० २-४४॥

साधु सत्संग तथा स्वाध्याय में जैसी प्रबल शक्ति है वैसी ही आन्तरिक सत्संग में भी है। आत्म-समर्पण भाव से वीतरागी सद्गुरु या अवतारी महापुरुषों के रूप का ध्यान तथा उनके शब्द का बारम्बार जप करना और उसके अर्थ का मनन करना ही यहाँ आन्तरिक सत्संग या स्वाध्याय माना है।

धर्म या अध्यात्म प्रत्यक्षानुभूतियों के अन्तर्गत जीवन के कठोर संघर्ष करते हुये साधक को प्रत्येक आत्मा अव्यक्त ब्रह्म है ऐसा मानना चाहिये। तथा वीतरागी सद्गुरु या अवतारी महापुरुषों को परमात्मा की उन्नतम् अभिव्यक्तियों के रूप में मानना चाहिये। क्योंकि ये सब किन्हीं विशेष आध्यात्मिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। परन्तु परमात्मा तो सिद्धान्तों का भी सार-स्वरूप है, परम सत्य है। यदि परमात्मा को सागर माना जाए, तो इन अवतारी महापुरुषों को लहरें मान सकते हैं। इन्हें सदा ही सागर का बोध बना रहता है। हम बुलबुले मात्र हैं। हम जैसे क्षुद्र जीवों के लिये सागर चेतना जितना समझते हैं उतना आसान नहीं है। अतः हमें लहरों के साथ एकत्व का अनुभव करना चाहिये। तथा विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार अपने व्यष्टि शरीर, व्यष्टि मन और व्यष्टि चेतना को वीतरागी सद्गुरु या अवतारी महापुरुषों के समष्टि शरीर, समष्टि मन और समष्टि चेतना में बदल देना चाहिये फिर लहरों के माध्यम से सागर की अनुभूति करनी चाहिये। बुलबुले, लहरें और सागर के भिन्न भिन्न रूप प्रतीत मात्र होते हैं पर सत्य की दृष्टि से एक ही रूप है।

यदि सारे चमत्कार साधक देखें तो हम इस परमात्मा रूपी अग्नि के ही स्फुलिंग हैं। अतः साधक को अपनी तुलना प्रकाश-मिश्रित बादल से करनी चाहिये। अहंकारी होने के कारण ही हम बादल के समान हैं और ज्योंही अहंकार को हटाकर परमात्मा के सम्पर्क में आते हैं तो प्रकाश के अनुरूप हैं। परमात्मा हम सबको एक साथ जोड़ने वाला सूत्र है। प्रायः हम इसे भूल जाते हैं और बहुत अहं केन्द्रित हो जाते हैं। अहं भाव का नाशकर अनन्त सत्ता के अंश के रूप में स्वयं का अनुभव करना ही आध्यात्मिक जीवन है।

'अतीन्द्रिय सहायता सर्वानुस्यूत' के अनुसार यदि हम ने ज्ञान के अनुसार बाह्य जगत में तथा भावना के अनुसार अन्तर जगत में, वीतरागी सद्गुरु या अवतारी महापुरुष को इष्ट मान लिया—तो साधक को उस सत्ता के साथ शाश्वत सम्बन्ध स्थापित करने के लिये अपने अन्तःकरण को पहले शुद्ध तथा पवित्र करना होगा। आप जानते हैं कि पवित्र मन ही सत्य का साक्षात्कार कर सकता है। ईश्वर और गुरु निष्कामी भक्त के सामने प्रकाश अपना प्रभुत्व प्रकट कर देते हैं। भक्त का काम तो भगवान में मन लगाना है। सत्य को प्राकृतिक, मानुषी नेत्रों से नहीं देखा जा सकता, सत्य तो हम शुद्ध एवं पवित्र मन से ही देख सकते हैं। परम सत्य की अनुभूति तो उन्हीं को हो सकती है, जिन्हें सूक्ष्म दृष्टि प्राप्त हो, जिनका मन शान्त और एकाग्र हो तथा जिनका चित्त शुद्ध हो।

अतः साधक मानसिक स्तर पर चिदाकाश के भीतर, मन और चित्त को शान्त, एकाग्र तथा सुदृढ़ बनाने, को अपने व्यष्टि शरीर, व्यष्टि मन और व्यष्टि अहङ्कार को चेतन पुरुष के समष्टि शरीर, समष्टि मन, समष्टि अहङ्कार से सुसम्बन्ध स्थापित करते हुए ज्ञानातीत ब्रह्म प्राप्ति के लिये जप पहले की तरह नित्य नियम से अपने गुरु मन्त्र का जाप तथा चेतन पुरुष के स्थूल रूप का चिन्तन श्वास-प्रश्वास व प्राण के खींचने और धारण करने की क्रिया के साथ, कुण्डली वर्णक प्रणाली के अनुसार करता है। तो सत्संग और स्वाध्याय के प्रभाव से कुछ दिनों बाद, श्वास-प्रश्वास जो पूर्व जन्म के संस्कार वश पहले ही 'प्राण' का रूप ले चुका है, धीरे-धीरे स्थूल कम्पन का रूप पकड़ लेता है। यही कम्पन स्वाभाविक गति द्वारा, स्थूल कारण (चित्त या सम्पूर्ण मन) से प्रक्रिया के रूप में (बुद्धि) के पास आने लगता है। साथ ही साथ रूप भी अपने रजोगुण प्रकृति के अनुसार चलायमान होकर अन्धकारमय सूक्ष्म दिखाई देने लगता है। आगे चलकर इसी प्रकार सतत् अभ्यास करने पर, कम्पन मृदु

होने लगता है। और 'प्राण' स्थूल कारण (स्थूल चित्त या सम्पूर्ण मन) से प्रक्रिया के रूप में (बुद्धि) से सूक्ष्म कारण (सूक्ष्म चित्त या सूक्ष्म सम्पूर्ण मन) के पास आने जाने लगता है। इसी प्रकार फिर प्रक्रिया के रूप में (बुद्धि) से निश्चयात्मक बुद्धि या महत् तत्व के पास सूक्ष्मतम-स्पन्दन के रूप में आने जाने लगता है। तथा बुद्धि में प्रतिक्रिया उत्पन्न कर देता है। इस प्रतिक्रिया के साथ ही साथ मन भी अपने सतोगुण प्रकृति के अनुसार स्थिर होकर तथा अति अन्धकारमय सूक्ष्मतर बनकर ईश्वर (आकाश तत्त्व) के भीतर अपनी तन्मात्रायें बिखेर देता है। तथा ग्रहीता (कारण शरीर—चेतन पुरुष) के साथ, तथा ग्राह्य (कार्य शरीर प्रकृति पुरुष) के साथ, ग्रहण (अस्मिता या अहंकार) के रूप में मिलकर सम्पूर्ण अन्तःकरण को प्रकाशित कर देता है। अन्तःकरण के प्रकाशित हो जाने पर मन दृढ़ व शान्त हो जाता है। संसार के सारे प्रेम सम्बन्धों, आसक्तियों, आकांक्षाओं, सुख-दुःख व भोग से साधक को छुटकारा मिल जाता है। तथा उसे अपने पूर्वजन्म का ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार एक तरह से साधक का सम्प्रज्ञात समाधि में प्रवेश हो जाता है। पातंजल योग दर्शन ने इस आशय की पुष्टि निम्न सूत्रों द्वारा की है।

प्रकाश क्रिया स्थिति शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥२-१८॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥१-४१॥

× × × ×

इससे पहले हमने अपने पहले लेख 'अन्तर यात्रा का सरलतम् साधन 'आत्म-समर्पण'' में वर्णन किया है कि योग दर्शन और सांख्य दर्शन यद्यपि सजातीय दर्शन है, परन्तु सांख्य दर्शन चेतन पुरुष के रूप में ईश्वर को आत्म साक्षात्कार का आदि कारण नहीं स्वीकार किया है। ईश्वर के अपेक्षा सांख्य के केवल त्रिगुण मयी प्रकृत का सर्वोत्तम प्रकाश महत् या बुद्धितत्व—जिसे वे सर्व व्यापी बुद्धितत्व कहते है। उससे उत्पन्न अहंतत्व के सूक्ष्म भूत चैतन्य और उसके अनुगामी परिणाम स्थूल भूत चैतन्य आत्मा को अलग-अलग असंख्य चेतन पुरुष के सत्ता के रूप में आत्म-साक्षात्कार का आदि कारण माना है।

ईश्वर आत्मा आदि जो सब धर्म के प्रतिपाद्य तत्व है वे बहिरिन्द्रियों के प्रत्यक्ष नहीं हो सकते, क्योंकि वे आप्त वाक्य पर आधारित है। एक की अवस्था जड़ के समान है, अतः भगवान सोचते नहीं—विचार करते नहीं विचार शून्य है। दूसरे की अवस्था चैतन्य की अवस्था है परन्तु उसके आलोक का स्पन्दन अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण दृष्टि गोचर नहीं

होगा, तथा उसके विचार से अनन्त गुणी और अवस्थाएँ हैं।

वेद वर्णित भावों के द्वारा अहंनिशा पर आधारित भारतीय योग दर्शन सांख्य मनोविज्ञान, विज्ञान तथा अन्य धर्मों के सिद्धान्त चैतन्य तथा भूत दोनों से परे जाकर चेतन पुरुष के रूप में ईश्वर या आत्मा के साक्षात्कार की बात करता है। जो आध्यात्मिक-तत्त्व, इन्द्रिय अनुभूति, विचार पर आधारित है, ज्ञान के अतीत है तथा ज्ञान स्वरूप आत्मा के आलोक के समान है।

दोनों सिद्धान्तों को सत्य कहा जा सकता है। उनमें जो भेद है वह केवल अपने-अपने भावना के अनुसार सूक्ष्मता और स्थूलता तथा शृंखला या श्रेणी के कारण है। इस शृंखला में यदि हम क–ख को क्रम से लें तो 'क' को प्रथम कहना पड़ेगा, ख–क से शुरू करें तो 'ख' को आदि मानना होगा। अतः हम इसे जिस दृष्टि से देखेंगे, वह उसी प्रकार प्रतीत होगा। चैतन्य अनुलोम-परिणाम को प्राप्त होकर स्थूल भूत का आकार धारण करता है, स्थूल भूत फिर विलोम-परिणाम से चैतन्य रूप में परिणत होता है, और इस प्रकार सृष्टि का क्रम चलता रहता है। सांख्य मनोविज्ञान, अन्य धर्मों के आचार्यगण-चैतन्य को प्रथम स्थान देते हैं। उससे यह शृंखला इस प्रकार रूप धारण करती है पहले चैतन्य पीछे भूत। वैज्ञानिक भूत को पहले लेकर कहते हैं कि पहले भूत पीछे चैतन्य।

अतः इसी शृंखला की श्रेणी में साधक ने पहले सांख्य प्रधान भावना को न मानकर अपने वेद प्रधान भावना विशिष्टा द्वैत सिद्धांत के अनुसार सूक्ष्म परिणाम भूत चैतन्य पुरुष 'विदेहलीन सद्गुरु' या 'अवतारी महापुरुष' श्रद्धा, विश्वास, आत्म-समर्पण के साथ चेतन पुरुष के रूप में आत्म साक्षात्कार का आदीकरण मान लिया है। चेतन पुरुष के रूप में 'विदेह लीन सद्गुरु' या 'अवतारी महापुरुष' को मान लेने के कारण ही उसे साधु संगत के साथ आन्तरिक सत्संग या स्वाध्याय की प्राप्ति हुई है। जिसके फलस्वरूप उसे भौतिक स्तर पर महाकाश के भीतर स्थूल विषय की मानसिक स्तर पर चिदाकाश के भीतर सूक्ष्म तर विषय भी समाधिज्ञान की उपलब्धि हुई है।

वर्तमान समय में जो साधक अपने कारण शरीर, स्थूल विषय–भौतिक शरीर, सूक्ष्म विषय–मन या चित्त (पाँचों कर्मेन्द्रियों तथा मन) सूक्ष्म तर विषय–'अविशेष गुण' अस्मिता या अहङ्कार का सम्बन्ध,—महीला अवस्था में, सूक्ष्म चैतन्य भूत कारण चेतन पुरुष, क्रिया-शक्ति वाले, सत्वगुण सम्पन्न, साधु चेतन पुरुष के साथ जुड़ा हुआ देख रहे हैं। वह इसी वेद वर्णित भावना के अनुसार चेतन पुरुष के

रूप में ईश्वर को मानकर, योग के गुरुत्वाकर्षण प्रणाली द्वारा उन्हीं समाधियों का अभ्यास करने, तथा 'प्राण' या 'वायु' शब्दों से उनका सूक्ष्म गत शक्ति के कारण है।

यही परिणाम साधक में दृढ़ता, एकाग्रता, तथा आध्यात्मिक अनुभव ज्ञान का इस समय मूल विषय बन गया है।

सांख्य दर्शन ने माना है कि—सृष्टि के प्रारम्भिक अवस्था से ही चले आ रहे आत्मा या पुरुष के प्रकृति में, सर्वव्यापी बुद्धि तत्त्व के रूप में निश्चयात्मक बुद्धि के पीछे, स्फुलिंग के रूप में प्रकाश रहित अवस्था में प्रकृति पुरुष, महत्तत्त्व, या 'वृत्ति' रहता चला आ रहा है। विशिष्ट साधकों द्वारा यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि—सांख्य ने यदि प्रकृति तथा पुरुष दो सत्तायें मानी हैं तो उसका कोई प्रकृति पुरुष भी होना चाहिये।

उन्हीं सिद्धान्तों तथा उपर्युक्त पंक्तियों में लिखित नियमों के अनुसार, साधक ने अपने अनुभूति ज्ञान की शृंखला की श्रेणी में, आत्मा रूपी चेतन पुरुष के 'क' अलग सत्ता—कारण शरीर—सूक्ष्म चैतन्य मूल पुरुष उसके मन तथा उसकी बुद्धि को न मानकर। 'ख' अलग सत्ता कार्य शरीर—स्थूल लिंग मूल स्फुलिंग या 'वृत्ति' उसके बुद्धि तथा निश्चयात्मक बुद्धि, महत्तत्त्व के स्वरूप को विशिष्ट साधकों के माध्यम से तथा अपने पूर्ण प्रत्यक्ष अनुभूति के आधार पर मान लिया है।

सांख्य, न्याय, एवं पूर्व भी योग दर्शन के अनुसार विद्या-अविद्या या ज्ञान-अज्ञान आदि वृत्तियां त्रिगुण के रूप में, सृष्टि के प्रत्येक काल में स्थित रही हैं। उन्होंने माना है कि चित्त-तत्त्व का साम्योन्मुख या वैषम्योन्मुख स्पन्दन ही वृत्ति है। साम्य में आकार शान्त होते हैं और वैषम्य में विषम व्याप्ति वृत्ति-व्याप्त होने का नाम ही वृत्ति है।

साथ ही साथ उन्होंने यह भी माना है कि देश के किसी आकार को मानकर, धारणा के अनुसार देहाकार-वृत्ति का संकोच ध्यान के द्वारा आत्माकार वृत्ति का संकोच करके तथा वृत्ति को साकार, शरीर के किसी चक्र में वृत्तियों का सहाकार कर देने से, धीरे-धीरे देश की कल्पना सूक्ष्म होकर, शून्य हो जाती है। वृत्ति का स्थानान्तरण नहीं होता क्योंकि स्थानाकार कल्पना ही नाना रूप धारण करती है। म वृत्ति देश जब अणुदेश में स्थित होती है तो देश का विस्तार शून्य हो जाता है।

उसी नियम को मानकर साधक ! प्रारम्भ से ही सिद्धयोग के गुरुत्वाकर्षण सिद्धान्त के अनुसार, सूक्ष्म चैतन्य मूल-कारण चेतन पुरुष जिसका परिचय पाते, सत्त्वगुण सम्पन्न 'सद्गुरु' या 'अवतारी महापुरुष' ने वस्तु विशेष को भीतर, पूर्ण मन्त्रों द्वारा, प्राण के खोलने प्रारम्भ

करने की कृपा के साथ, रूप का ध्यान, साथ ही साथ उसी प्रकार स्थूल लिंग भूत सत्वगुण युक्त साधु प्रकृति पुरुष—महद् तत्व या (बुद्धि) का उसके दायरे के भीतर, गुरु मन्त्रों द्वारा प्राण के खींचने धारण करने की क्रिया के साथ धारणा, मन और बुद्धि को संयुक्त करके, ईश्वर ज्ञान प्राप्ति के लिये, अनासक्ति भाव से करता चला आ रहा है।

वेदान्त भावना विशिष्ट द्वैत सिद्धान्त प्रतिपादन करने वाले, कारण शरीर रूपी चेतन पुरुष 'ईश्वर' 'अवतारी महापुरुष' या 'सद्गुरु' को, साथ ही साथ सांख्य मीमांसा दर्शन का प्रतिपादन करने वाले कार्य शरीर रूपी प्रकृति पुरुष (महद् तत्व) या (बुद्धि) को मान कर, योग शास्त्र के अनुसार पुरश्चरणीय प्रणाली द्वारा मन, बुद्धि को संयुक्त करके, उसके दायरे के भीतर अन्तःकरण में ध्यान और धारणा, सत्संग के साथ करने से ही, साधक की वृत्तियां बहिर्मुखी नहीं हो सकी हैं। तथा इस समय अनुकूल परिस्थितियाँ पानी हो गई हैं।

उसी के प्रति क्रिया स्वरूप, पूर्व जन्मों के संस्कार वश, स्थूल परमाणु कम्पन द्वारा सूक्ष्म रूप से, कारण चेतन पुरुष के मानस सरोवर के ऊपरी सतह पर तथा अणुस्वरूप 'अहं' या अव्यक्त भाव उसी प्रकार उसके सूक्ष्म कम्पन द्वारा कार्य प्रकृति पुरुष के दसेन्द्रिय स्नायु केन्द्र या मस्तिष्क से क्रमशः अणुस्वरूप व्यक्त भाव, सत्संग तथा इस समय आकाशीय कम्पन द्वारा स्वरात्मक तथा ध्वन्यात्मक रूप से मिलकर अन्तःकरण में कमल + बिन्दु की भांति ईश्वर शक्ति की तरह अणु देश में स्थित हो गया है। यह वही 'गुणावस्था' या 'विशेष पूर्ण' पुरश्चरणीय प्रणाली द्वारा साम्योन्मुख स्पन्दन से प्राप्त विद्या ज्ञान के कारण है।

—क्रमशः

❀ आज—कल ❀

आप मानसिक उन्नति की ओर देखें, तो आपको बड़े-बड़े पोथाधारी पण्डित दिखाई देंगे, जिनके नामों के साथ डेढ़-डेढ़ फुट की उपाधियाँ लगी हुई हैं—जो अपने को विद्या का भण्डार और सर्वांगपूर्णता का केन्द्र मानते हैं और अपनी आत्म-गरिमा के आगे ब्रह्म को भी तुच्छ समझते हैं। इनकी उन्नति पोथी-रटन्त और उपाधि-प्राप्ति से आगे नहीं बढ़ पाती। वे इतने ही को अपने जीवन का चरम लक्ष्य मान कर परम उन्नत मानो बन बैठे हैं।

एक सम्प्रदाय वह है जो आध्यात्मिक उन्नति का ठेकेदार बना हुआ है, जप-तप, तीर्थ-दान, व्रत-उपवास इनके जीवन का लक्ष्य है, और इनके बाहरी रूप को ही इन्होंने अपनाया हुआ है। अपनी आत्मा को सन्तुष्ट करने के लिए नहीं, बल्कि दूसरों को प्रसन्न, प्रभावित या आकृष्ट करने के लिए। इन सारी आध्यात्मिकता का बाहरी स्वरूप कितना ही मनोमोहक क्यों न हो, परन्तु उनके भीतरी ढांचे में बिल्कुल खोखलापन और गन्दगी का साम्राज्य है।

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

गोरख पद्धति—के उपयोगी अंश

तन्तुना मणिवत्प्रोतो यत्र कन्दः सुषुम्णया ।
तन्नाभिमण्डलं चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥

अर्थ—नाभि में एक कन्द है, जिससे सर्वाङ्ग व्यापिनी शिरायें (नसें) निकली हैं। इस नाभि मण्डल को मणिपूरक चक्र कहते हैं। इस चक्र से निकली १० नसें ऊपर को जाती हैं, जो शब्द, रस, गन्ध, श्वास, तृष्णा, क्षुधा, रूप, डकार, नेत्र दृष्टि, धारणा (पाचन शक्ति) इन दस कर्मों को अपने-अपने स्थानों में दीपन करती हैं। तथा दस नसें नीचे की ओर जाती हैं जो [illegible] मूत्र, मल, शुक्र, अन्न, पवन, रस को नीचे ले जाती हैं।

चार शिरायें गति रखती हैं। इनमें से दो बायीं ओर और दो दायीं ओर होकर प्रसारित सूक्ष्म शाखाओं का रूप लेकर सर्वाङ्ग में जाल की तरह रोम-रोम में शक्ति पूरित है। इन्हीं से प्रस्वेद (पसीना) छेद-छिद्रों से रोम-रोम के सहारे बाहर आता है। तथा इन्हीं छिद्रों से तेल मर्दनादि पदार्थ भीतर प्रवेश करते हैं।

इस प्रकार का नाभि कन्द जैसे सूत्र में मणि पिरोया रहता है ऐसे ही यह सुषुम्ना नाड़ी में पिरोया है। इसे नाभि मण्डलस्थ मणि पूरक चक्र कहते हैं।

× × × × ×

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभे कन्दो योनिः खगाण्डवत् ।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः ।

भावार्थ—लिंग मूल से ऊपर नाभि के कुछ नीचे कन्द के सदृश समस्त नाड़ियों का मूल (उत्पत्ति स्थान) पक्षी के अण्डे के समान आकार वाला है। इससे बहत्तर (७२) हजार नाड़ी ऊपर नीचे फैली होकर सर्वाङ्ग में व्याप्त हैं।

× × × × ×

तेषु नाडी सहस्रेषु द्विसप्तति रुदाहृताः ।
प्रधाना प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृता ॥

भावार्थ—इन ७२ हजार नाड़ियों में मुख्य बहत्तर ही हैं। इनमें भी प्राण वाहिनी वायु चलाने वाली दस ही नाड़ी हैं।

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ।
गान्धारी हस्ति जिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥
अलम्बुषा कुहूश्चैव शङ्खिनी दशमी स्मृता ।
एतन्नाडीमयं चक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा ॥

इड़ा १ पिंगला २ सुषुम्ना ३ गांधारी ४ हस्ति जिह्वा ५ पूषा ६ यशस्विनी ७ अलम्बुषा ८ कुहू ९ शंखिनी १० ये मुख्य नाड़ियों के नाम हैं।

यह नाड़ीमय चक्र योगाभ्यासी को अवश्य जानने योग्य है। इसके पश्चात् इन नाड़ियों में चलने वाले वायु को भी जानना चाहिये। प्राणायाम द्वारा वायु से ही नाड़ी शोधन होता है।

× × × × ×

इडा वामे स्थिता भागे पिङ्गला दक्षिणे स्थिता ।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वाम चक्षुषि ।
दक्षिणे हस्ति जिह्वा च पूषा कर्णे दक्षिणे ।
यशस्विनी वाम कर्णे आनने चाप्यलम्बुषा ॥

नासिका के वाम भाग में इड़ा, दक्षिण भाग में पिङ्गला नाड़ी रहती है, इनके मध्य में सुषुम्ना नाड़ी रहती है, इन तीनों की जड़ मूलाधार चक्र की कर्णिका त्रिकोण है। जिसके वाम कोण से इड़ा, दक्षिण कोण से पिङ्गला, और पश्चिम कोण से सुषुम्ना नाड़ी उत्पन्न हुई है। तीनों नाड़ी दल चक्र को अतिक्रमण किये हैं। अपनी अपनी ओर के नासिका छिद्र में रहती हैं। केवल सुषुम्ना मूलाधार से ब्रह्म रन्ध्र पर्यन्त है।

अन्य नाड़ी उक्त चक्र के कन्द से उत्पन्न होकर प्रत्येक स्थान में है। जैसे वाम नेत्र में गान्धारी, दक्षिण में हस्ति जिह्वा, दक्षिण कर्ण में पूषा, वाम कर्ण में यशस्विनी, मुख में अलम्बुषा है।

योगः कर्म सु कौशलम्

❀ श्री डा० राजकुमारी मिश्रा

य आत्मसाक्षात्कार रूपी सिद्धि पाने के इच्छुक साधकों में यह भ्रामक धारणा फैली हुई है कि गृहस्थ में रहकर उच्च सिद्धि प्राप्त करना असम्भव है। इसके लिये तो निर्जन वन या किसी गिरिकन्दरा में रह कर ही साधना करनी चाहिए। इहलोक के जंजाल परलोक की तैयारी में बहुत बड़ी बाधा है, आदि-आदि विचार प्रायः अधकचरे साधकों के मुख से सुनाई देते रहते हैं। परन्तु इस प्रकार आक्षेप करने वाले लोग सर्वव्यापक सत्ता श्री गुरुदेव के वचनामृत को सर्वथा भूल ही जाते हैं। श्री मुख से मैंने अनेक बार सुना है कि गृहस्थी साधक, साधना द्वारा उच्चावस्था पा सकते हैं। तीव्र संवेग द्वारा निरन्तर की गई साधना अवश्य ही साधक को परम तत्व का ज्ञान करा देगी। इस हेतु गृहत्याग की बिल्कुल कोई आवश्यकता नहीं है। जरूरत है केवल मैं, मेरे भाव और ममता त्यागने की न कि अकर्मण्य जीवन-यापन की।

हमारे सामने लाहिड़ी महाशय का परमोच्च आदर्श उपस्थित है, जिन्होंने गृहस्थ में रहते हुए सरकारी नौकरी करते हुए भी उच्च योगस्थिति प्राप्त की थी। भगवान श्रीकृष्णचन्द्र भी भगवद्गीता में कहते हैं, कि अपने अपने कर्म करते रहो। कर्म का त्याग मत करो, परन्तु कर्मफल पाने की लालसा त्याग दो। अपना कार्य भली प्रकार कुशलता पूर्वक करो।

'योगः कर्मसु कौशलम्'

के उनके (भगवान कृष्ण के) वाक्य का भी यही अभिप्राय है।

अपने परम्परागत कार्य का पालन अवश्य करो, चाहे वह कितना ही छोटा क्यों न हो। भगवान ने गीता में इसीलिए कहा है—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः,
परधर्मो भयावहः।

अतः साधक को चाहिए कि वह जिस भी कार्य में नियुक्त है, उसी कार्य को अपनी सम्पूर्ण शक्ति से निष्ठा एवं ईमानदारी के साथ किया करे। ऐसा कर्म ही उसकी साधना है, जिससे उसके शरीर व मन की शुद्धि हो जाती है, तथा ऐसे कर्मरूप तपस्या से उसमें अद्भुत अपार शक्तियों का उदय होजाता है।

महाभारत में एक स्थल पर ऐसे ही

जीवन उद्देश्य को समझो

ॐ श्री स्वामी शिवानन्द जी महाराज

जीवन उद्देश्य क्या है ? खाना पीना, पचाना, सांस लेना आदि शरीर में क्रिया होने वाले काम मात्र ही क्या जीवन है ? अथवा क्या धन सम्पत्ति या नाम यश की प्राप्ति के लिए युक्तियों और उपायों का सोचना मात्र ही जीवन है ? अथवा सृष्टि की परम्परा को चलाने के लिए सन्तानोत्पत्ति करना ही जीवन है ? वैज्ञानिक लोग जीवन का कुछ भिन्न ही अर्थ लगाते हैं ? और भी कट्टर चार्वाक सरीखे दार्शनिक तो बिल्कुल ही भिन्न अर्थ लगाते हैं।

जीवन दो प्रकार का होता है, एक तो भौतिक तथा दूसरा आध्यात्मिक। वैज्ञानिकों का कथन है कि विचारना, जानना, इच्छा करना, भोजन करना और उसका परिपाक करना, साँस लेना इत्यादि जो कार्य हैं वही जीवन है। परन्तु यह जीवन अमर नहीं होता ऐसा जीवन दुःख, सुख, चिन्ता, आपत्ति, विपत्ति, पाप, बुढ़ापा, रोग इत्यादि का शिकार बना रहता है। अतएव प्राचीन महर्षियों, योगियों और तपस्वियों ने (जिन्होंने अपने चित्त और इन्द्रियों को अपने वश में करके त्याग और तप, वैराग्य और अभ्यास इत्यादि के बल से, अपनी आत्मा को पहचान लिया है) निश्चय पूर्वक कहा है कि जो आत्मा में रत है केवल मात्र वही स्थायी और अक्षीण आनन्द एवं अमरत्व प्राप्त कर सकता है। उन्होंने मनुष्यों के भिन्न-भिन्न स्वभाव, योग्यता और रुचि के अनुसार आत्म-साक्षात्कार के लिए विभिन्न निश्चित मार्ग बतलाया है। है जिन लोगों को ऐसे महात्माओं में, वेदों में और गुरु के वचनों में अटूट श्रद्धा है वे आध्यात्मिक और सत्य के मार्ग पर निर्भीक विचरते हैं, और स्वतन्त्रता, पूर्णता का मोक्ष प्राप्त करते हैं। वे लौट कर फिर मृत्युलोक में नहीं

(पिछले पृष्ठ का शेष)

निष्ठावान स्वधर्मपालक, धर्मव्याध की कथा है, जो निष्काम कर्मरूपी तपस्या के बल से तत्वज्ञान पा सका था। उसके पास ज्ञान प्राप्ति हेतु परमतपस्वी कौशिक भी गये थे। यद्यपि उसका कार्य व्यापार लोक की दृष्टि में उत्तम कोटि का नहीं था। किन्तु निष्ठा पूर्वक किये कर्म से ही उसे ऐसी ऊँची स्थिति प्राप्त कर ली थी।

—x— —x—

और चेतन अभिन्न है। शक्ति और शक्त एक ही हैं। ब्रह्म व माया अभिन्न और एक हैं। ब्रह्ममय शाश्वत जीवन प्राप्त करने के लिये भौतिक जीवन एक निश्चित साधन है। संसार आपका एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षक है, पञ्चतत्त्व आपके गुरु हैं। प्रकृति आपकी माता व पथ-प्रदर्शिका है, यही आपकी 'मूक-शिक्षिका' है। यह संसार दया, समता, सहिष्णुता, विश्व प्रेम, उदारता, साहस, धैर्य, महत्वाकांक्षा इत्यादि दिव्य गुणों के विकास के लिये एक सर्वश्रेष्ठ शिक्षालय है। यह संसार आसुरी स्वभाव से युद्ध करने के लिये एक अखाड़ा है और आपके भीतर की ईश्वर-शक्ति का प्रकाश में लाने का एक दिव्य क्षेत्र है। गीता के अनुसार दिव्य पुरुष सच्चिदानन्द में या अपने ही स्वरूप में स्थिर रहते हैं। यही मानव-जीवन का ध्येय एवं परम् उद्देश्य है, यही अन्तिम लक्ष्य है, जिसके अनेक नाम यथा—निर्वाण, परमगति, परमधाम और ब्राह्मी-स्थिति हैं। आत्मसाक्षात्कार के लिए प्रयत्न करना ही मनुष्य का परम कर्तव्य है।

परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि हम कि इस भौतिक जीवन की उपेक्षा करें। भौतिक जगत् भी परमेश्वर या ब्रह्म का ही स्वरूप है जिसको कि उसने अपनी लीला के लिए बनाया है। अग्नि और उष्णता, बरफ और शीत, पुष्प और सुगन्धि की भाँति ब्रह्म योगवाशिष्ठ की मुख्य शिक्षा यही है कि मनुष्य को संसार में रहते हुए आत्म-साक्षात्कार करना चाहिए। जल में कमलदल की भाँति संसार में रहते हुए भी उससे बाहर रहिए। स्वार्थ, काम, क्रोध, लोभ, मोह, ईर्ष्या, द्वेष, आदि नीच आसुरी स्वभाव को त्याग कर मानसिक त्याग व आत्म-बलिदान का दिव्य स्वभाव धारण कीजिये।

क्या जीवन में खाने पीने और सोने से अधिक उत्तम अन्य कोई कार्य (उद्देश्य) है ही नहीं? मानव-योनि प्राप्त करना दुष्कर है, अतएव इसी जीवन में आत्मा को प्राप्त करने की भरपूर चेष्टा करिये। राजा महाराजाओं को भी काल कवलित कर लेता है। आज युधिष्ठिर, भीष्म, वाल्मीकि, विश्वामित्र, नेपोलियन आदि कहाँ हैं? इसलिए भौतिक वासनाओं में मत फँसिये, तभी आप परमानन्द की प्राप्ति कर सकेंगे। ताश, सिनेमा, धूम्रपान में अपने समय को बिताने से क्या आपको असली शान्ति मिल सकती है? इस सांसारिक जीवन, इन्द्रिय-लोलुपता और विषय-वासना के क्षणिक सुख में भटकते रहने से क्या आपको सच्चे सुख का अनुभव हो सकता है? आपस के लड़ाई झगड़े में या व्यर्थ के बकवाद में क्या आपको सच्चा आनन्द मिल सकता है?

अपने आदर्श और लक्ष्य तक पहुँचने के

लिए संग्राम करते रहना ही जिन्दगी है। इस संग्राम में विजय प्राप्त करना ही जीवन है। अनेक प्रकार की आपत्तियों से ही जीवन भरा है। मन और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त कीजिये। ये ही आपके असली शत्रु हैं। अपनी बाह्य और आन्तरिक प्रकृति पर विजय प्राप्त कीजिये। अपनी पुरानी बुरी आदतों, कुविचारों कुसंस्कारों और कुवासनाओं को अवश्य त्यागना होगा, इन पैशाचिक शक्तियों से युद्ध करना और विजय प्राप्त करनी होगी। अधःपतन की ओर ले जाने वाली वासनाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखना होगा।

मानव जन्म तो आत्म-साक्षात्कार करने के लिए हुआ है। नियमित रूप से सत्कीर्तन कीजिये और सात्त्विक सुख का अनुभव कीजिये। निष्काम कर्म के द्वारा अपने मन और बुद्धि को शुद्ध कीजिए। इन्द्रिय-निग्रह से अपने ही स्वरूप में स्थित होइए। जीवन-संग्राम में जब आप पर प्रतिदिन चोटें पड़ती हैं, जब आप धक्के खाते हैं, तभी मन आध्यात्मिक पथ की ओर ठीक मुड़ता है और सांसारिक विषयों से अन्यमनस्कता एवं अरुचि उत्पन्न होती है। इस प्रपंच से उद्धार पाने की उत्कण्ठा जागृत होती है, विवेक और वैराग्य होता है। अतएव गम्भीर धारणा और ध्यान में लग जाइए।

मनुष्य की आयु अल्प है और समय तीव्र गति से भागा जा रहा है। संसार विपत्तियों से भरा है। अतएव अविद्या ग्रन्थि को काटकर निर्वाणिक आनन्दामृत का छक कर पान कीजिए।

आध्यात्मिक जीवन निरा स्वप्न नहीं है केवल आवेश मात्र नहीं है। यही सच्चा आत्म-स्वरूप जीवन है। यह विशुद्ध आनन्द और सुख का अनुपम अनुभव है। इसी को पूर्णता-प्राप्त जीवन कहते हैं। एक स्थिति ऐसी होती है जहाँ सदा शाश्वत शांति और केवल आनन्द ही आनन्द है; परमानन्द है। वहाँ न तो मृत्यु है और न वासनायें ही, वहाँ न दुःख है न दर्द, न भय है न चिन्ता। क्या आप इस अनुपम अपार आनन्द और 'परम-सुख' के अमर-पद की प्राप्ति के लिए लालायित नहीं हैं? यदि हैं तो जागिये अपने मन और इन्द्रियों पर संयम रखिए, सद्गुणों को सीखिए आत्मा के सच्चे स्वरूप को जानने की चेष्टा करिये, आत्मतत्त्व का नियमित रूप से ध्यान कीजिये। तभी आप उस अतीव गम्भीर, असीम आनन्द एवं अमरत्व को पा सकेंगे, केवल तभी आप अमरपद तक पहुँच सकेंगे। इस शरीर को ही आत्मा समझ लेना सबसे बड़ा पाप है। इस भ्रमात्मक भाव को त्याग दीजिए। सांसारिक महत्त्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिए उपाय करना, सम्बन्धियों को खोजना विचारना, झूठे मनसूबे बाँधना, ख्याली पुलाव पकाना छोड़िए, चिर-पालित मायाविनी आशाओं को तिलांजलि दीजिए।

वासनाओं और इच्छाओं का दमन कर उनसे ऊपर उठिए। बुद्धि से काम लीजिए। उपनिषदों का मननपूर्वक अध्ययन करिए। नियमित रूप से नित्य निदिध्यासन करिए। अविद्या और अज्ञान के गहन अन्धकूप से बाहर निकलिए और ज्ञानरूपी सूर्य की जगमगाती ज्योति में स्नान करिये। इस ज्ञान-पथ में दूसरों को भी साथी बनाइये। अपवित्र इच्छाएँ और अविद्या आपको बहका लेती है। अतः इसे भी मत भूलिए कि मानव-जीवन का मुख्य उद्देश्य और अन्तिम लक्ष्य आत्म-साक्षात्कार करना ही है। झूठे बाह्य आडम्बरों और माया के मिथ्या प्रपंचों में मत फँसिये। कल्पना के मिथ्या स्वप्नों से जागिये और थोथे, सारहीन प्रलोभनों के जाल में न फँसकर शोक और [illegible] ही बनिये। अपने आत्मासे प्रेम कीजिए क्योंकि आत्मा ही परमात्मा या ब्रह्म है, वही सर्वोच्च शक्तिमान् सत्य है। आत्मा ही शाश्वत है। अतः आत्मामें ही स्थित होइए और 'तत्त्वमसि' आप ही ब्रह्म हैं इसे पहचानिए। यही वास्तविक जीवन है।

कर्मयोग का अभ्यास जिज्ञासु के मन को आत्म-ज्ञान ग्रहण करने के योग्य बनाता है। और उसे वेदान्त के अध्ययन का योग्य अधिकारी बना देता है। कर्मयोग की प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पूर्व ही कुछ लोग 'ज्ञान-योग' के अभ्यास में असमय ही कूद पड़ते हैं। यही कारण है ऐसे लोग ज्ञान की प्राप्ति में बुरी तरह असफल होते हैं। उनका मन अशान्त रहा करता है तथा प्रतिकूल और [illegible] भावनाओं से भरा रहता है। वे ब्रह्म की कोरी बात ही किया करते हैं, व्यर्थ बकवास, शुष्क वाद-विवाद और सत्व-हीन तर्क-वितर्क में फँसे रहते हैं। उनका दार्शनिक-ज्ञान उनकी जिह्वा तक ही सीमित रहता है या यों कहिए कि वे लोग केवल मौखिक-वेदान्ती ही हैं। आवश्यकता तो ऐसे वेदान्त की है जिसके द्वारा सबमें आत्मभाव रखते हुए देश और मानव-समाज की अनवरत निःस्वार्थ सेवा क्रियात्मक रूप से हो सके।

अपने हृदय में प्रेम की ज्योति जगाइये। सबको प्यार करिए। अपनी प्रगाढ़ प्रेम की बाहुओं से प्राणीमात्र को आलिंगन करिये। प्रेम का ऐसा रहस्यमय दिव्य सूत्र है जो सबके हृदयों को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' समझकर एक में बांध देता है। प्रेम ऐसी पीड़ा-नाशक स्वर्गीय महौषधि है जिसमें जादू की सी सामर्थ्य है। अपने प्रत्येक काम को विशुद्ध प्रेममय बनाइये। लोभ, धूर्तता, छल-कपट और स्वार्थ-परताका हनन कीजिए। अनवरत दयालुता के कार्यों से ही अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है। प्रेम से भरे हुए हृदय से, सतत् सेवा करने से क्रोध, द्रोह, ईर्ष्या आदि दूर होते हैं। दयालुता से भरे हुए कार्य करने से आपको शान्ति, बल, आनन्द और अधिक सन्तोष की प्राप्ति होगी।

❂

(पृष्ठ ८ का शेष)

इस दुनिया में मात्र मनुष्य ही नहीं रहते। पशु-पक्षी, सरीसृप, कीट-पतंग और सूक्ष्म जीवी समुदाय के प्राणियों की भी अनेकानेक जातियां उपजातियां हैं। इनके शरीर और मन अपने ढंग के बने हैं, इनकी इच्छायें, आवश्यकतायें, रुचियां, संवेदनाएं, समस्यायें, कठिनाइयां, सुविधायें और क्षमतायें ऐसी हैं जिनके भाव चित्र तैयार किये जा सकें तो उन सबके बीच उतना ही अन्तर है जितना कि लोक-लोकान्तरों के मध्य पाई जाने वाली भिन्नताओं के बीच पाया जाता है। स्वर्ग और नरक की कोई तुलना नहीं। ग्रह-उपग्रहों में से प्रत्येक का वातावरण एक दूसरे से भिन्न है। सौर मण्डल में बुध ग्रह जैसा गरम और प्लूटो तुल्य तापमान में भी अधिक ठण्डा। प्राणियों के मध्य भी ऐसी ही अगणित प्रकार की दुनिया बनी और बसी हुई है। उनमें समता कम और भिन्नता अत्यधिक है।

वैज्ञानिक और दार्शनिकों का अनुसंधान निष्कर्ष और भी अधिक विचित्र है। वैज्ञानिक यहां अणु-परमाणुओं की आकृतियां चलते देखते हैं। ताप, प्रकाश और शब्द की उद्वेलित तरंगें इस जगत में हलचलों की जन्म-दात्री है। वे न कभी चैन से बैठती हैं और न बैठने देती हैं। जड़-परमाणु और चेतना जीवाणुओं में उनके अनुसार कोई मौलिक अन्तर नहीं। पदार्थ ही स्थिति विशेष में जीवन बन जाता है। [illegible] सब एक [illegible]। यह सब कुछ स्वयंभू और सनातन है। प्रकृतिगत अनुशासन ही सृजन अभिवर्धन और परिवर्तन के लिये उत्तरदायी है।

दार्शनिक को कण-कण में चेतना दीखती है। इन सबमें ब्रह्म ही ओत-प्रोत है। चेतना ब्रह्म और जड़ उसका दृश्य स्वरूप है। जड़ की चेतना जैसी हलचलें करने और गुण धर्म के रूप में सुस्थिर रहने का कारण परब्रह्म का अनुशासन नियंत्रण ही निमित्त कारण है। जड़ को वह कभी इस कभी उस रूप में परिणत करता रहता है। जो निर्जीव समझा जाता है उसमें भी जीवन विद्यमान है।

कुछ बातों में मतभेद होते हुये भी दोनों कुछ स्थानों पर सहमत हैं। जो कुछ दीखता है। समझता है वह वस्तुतः वैसा है नहीं। यह पदार्थ और प्राणी के बीच होने वाले आदान-प्रदान की अवास्तविक अनुभूति है। यथा रसायन विशेष से बना है जिह्वा के रसों का समन्वय होने के उपरान्त उसकी जानकारी मस्तिष्क के मिठास के रूप में लगती है। नीम हमें कड़ुआ लगता है पर ऊँट उसे बड़े चाव पूर्वक खाता है। नीम का वास्तविक स्वाद क्या है यह कुछ भी नहीं कहा जा सकता। विभिन्न प्राणी अपनी स्थिति के अनुरूप उसका स्वाद पाते हैं। यही बात स्वरूप के सम्बन्ध में भी है। हाथी को मनुष्य अपने से कई गुना बड़ा दीखता है तो आश्चर्य नहीं। इन्द्र धनुष जैसा कि हम देखते हैं वैसा किसी भी स्थान पर होता नहीं। [illegible] पानी की बूँदों पर सूर्य किरणों की प्रतिक्रिया भर वैसा बोध कराती है।

संसार कैसा है? उसका रस, रूप और गुण बताना कठिन है। यह हर किसी की अपनी अपनी अनुभूति का विषय है। इसमें उसकी इन्द्रियों, मस्तिष्कीय संरचना, मान्यता परिस्थितियां आदि निमित्त कारण होते हैं। अतएव यह कहा जा सकता है कि यह संसार 'भाव लोक' है। हर प्राणी की अपनी मान्यता और भावना है। सबका अपना [illegible] और अपना स्थान। इसलिए हर किसी को वह अपने-अपने स्तर पर अलग-अलग प्रकार का दृष्टिगोचर होता है। वह वस्तुतः कैसा है इसका किसी को अता-पता नहीं।

SIDDHAYOG—Regd. No. L. AG. 0... Jan. 1985

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा ।

PRINTED MATTER

Book-Post

श्री ....

....

....

....

सत्वस्थ ही मनुष्य स्वस्थ है !

जो धन केवल निजहित में, केवल अपने पेट पालन में अपव्यय किया जाता है वह धन ऐश्वर्य नहीं है। ऐश्वर्यवान तो तेजस्वी वर्चस्वी ओजस्वी और उदार होता है। धनवान तो प्रायः अभिमानी जड़ता में रुचि रखने वाले, दूसरों से घृणा करने वाले और बदले में ईर्ष्या पाने वाले लोग जो रजोगुणी तमोगुणी होते हैं, वे रोगी रहते हैं, वे स्वस्थ नहीं रहते। सत्वस्थ मनुष्य ही स्वस्थ है। वही ऐश्वर्यशाली, वीर्यवान, और सत्कर्मों में रुचि रखने वाला कर्त्तव्य निष्ठ व्यक्ति है। कर्त्तव्य निष्ठ व्यक्ति उदार होता है। वह दरिद्र नहीं होता। वह तो भगवान के व्रत का व्रती होता है, उसका संकल्प सत्य होता है, सत्य के साथ ही सुयश कीर्ति, शोभा, श्री का वास रहता है।

—भृगिसार